

---

Printed by Chintaman Sakharam Deola, at the Bombay  
Vaibhav Press, Servants of India Society's Home,  
Bandhurst Road, Girgaum, Bombay

Published by Nathuram Premi, Honorary Secretary  
Manikchand Degamber-Jain grantha Mala,  
Hirabagh, Bombay.

---

## ग्रन्थ-सूची ।

१ तत्त्वानुशासने	...	...	...	...	१
२ ह्योपदेश कृत्तिमदिगः	...	...	...	...	१४
३ नीतिमारः	...	...	...	...	५८
४ मोक्षपञ्चाशिका	...	...	...	...	७०
५ धृतावतारः	...	...	...	...	७४
६ अष्टात्मनरतिषी टिप्पणीसमेता	...	...	...	...	९०
७ पात्रकेसरिन्मोत्रं गटीकं	...	...	...	...	१००
८ अष्टात्मनःकम्	...	...	...	...	१११
९ द्वात्रिंशतिषा	...	...	...	...	१२२
१० वैराग्यमणिमाला	...	...	...	...	१२८
११ तन्त्रमारः ( प्राकृत )	...	...	...	...	१४५
१२ धनमन्त्र्यः ( प्राकृत )	...	...	...	...	१५२
१३ दादगी-गाथा संस्कृतच्छायेनेता	...	...	...	...	१६१
१४ ज्ञानमारः संस्कृतच्छायागदिगः...	...	...	...	...	१६७

## माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला ।

इस ग्रन्थमाला में सबतक नीचे लिखे हुए ग्रन्थ छप चुके हैं:—

- १ लघीयस्वयाविसंमह । भद्रकलंककृत लघीयत्रय सटीक, और अनन्तक  
तिरुत बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा लघु सर्वज्ञसिद्धि । पृ० १०)
- २ सागारधर्माभृत । पं० आशाधरकृत मूल और स्वोपज्ञ भव्यकुमुदचन्द्रिका  
टीकासहित । पृ० १३)
- ३ चिकान्तकीरवीय नाटक । हस्तिमङ्गलकृत । पृ० १०)
- ४ पार्श्वनाथचरित । वादिराजसूरिकृत । पृ० ॥)
- ५ मैथिलीकल्याण नाटक । हस्तिमङ्गलकृत । पृ० १)
- ६ आराधनासार । देवमेनकृत मूल प्राकृत और रत्नकीर्तिदेवकृत संस्कृत  
टीकासहित । पृ० १)॥
- ७ जिनवत्तचरित । आचार्य गुणभद्रकृत । पृ० १)॥
- ८ प्रभृष्टचरित्र । कविवर महामेनकृत । पृ० ॥)
- ९ चारित्रसार । मयिनर चातुर्दशकृत । पृ० १०)
- १० प्रमाणनिर्णय । वादिगात्रसूरिकृत । पृ० १०)
- ११ आचारसार । वीरनन्दि सिद्धान्तार्थकवर्णकृत । पृ० १०)
- १२ त्रिलोकसार । आचार्य नेमिकन्दकृत मूल प्राकृत और आचार्य माधव  
चन्द्रकृत संस्कृतटीका । पृ० १)॥
- १३ तत्त्वानुशासनाविसंमह । पृ० ॥१०)
- १४ अनन्तधर्माभृत । पं० आशाधरकृत मूल और संस्कृतटीकासहित ।  
छप रहा है ।

नोट— इस ग्रन्थमाला के समाप्त ग्रन्थ लागत के सूचक के नीचे आते हैं । सारीय  
दानवीर ने इस माणिकचन्द्रजी के स्मारक में यह ग्रन्थमाला निकाली जाती है । प्रत्येक  
धर्मोत्साह इसी गृहावली करनी चाहिए । प्रायः सभी जैन-बुद्धों के महानि  
ये ग्रन्थ मिलेंगे ।

## संग्रहके ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओंका संक्षिप्त परिचय ।

१ तत्त्वानुशासन । इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य नगमेन हैं । ग्रन्थके अन्तमें वे अपने द्वा-न्युक्ता नाम विजयदेव और विद्यान्युक्ता नाम धीरचन्द्रदेव, शुभचन्द्रदेव तथा महेन्द्रदेव बतलाते हैं । अपने संघ या सनमण्डादिके विषयमें वे मौन हैं । अपने समयका भी वे ठीक नहीं बताते हैं । परन्तु ऐसा मान्य होता है कि वे विषयकी १३ वीं सताब्दिमें पहले हुए हैं । क्योंकि पण्डितका आधार 'दृष्टेपदेन टीका' में—जो इयां सप्रदर्शमें प्रकाशित की गई है—इस ग्रन्थके अनेक श्लोक 'उक्तं च' शब्दोंमें उद्धृत करत है । उदाहरणके लिए इस सप्रदर्शके पृष्ठ १७ में 'गुणपदेनमात्मनः' आदि दो श्लोकोंके देखिए । वे तत्त्वानुशासनके १९६ और १९७ सूत्रोंके श्लोक हैं । और ये आधारजिने-जैसा कि आगे बतलाया गया है—विषय संवत् १२८५ के पहले दृष्टेपदेन टीका लिखी है । अतः तत्त्वानुशासनके कर्ता इसमें भी पहले हुए हैं । नागमेनके अन्य किसी ग्रन्थसे इन परिचित नहीं ।

तत्त्वानुशासन उच्छकोटिका और महत्त्वका ग्रन्थ है । मान्य नहीं, इसका संघट्ट प्रचार क्यों नहीं हुआ । बम्बईके डिगम्बरजेतमन्दिरेक पुस्तकालयमें एक बहुत ही जर्जर प्रार्थन पुस्तक है । उसी पत्रमें इस ग्रन्थकी प्रसक्तकी बराई गई है । इसकी प्रति वही प्राप्त न हो सकी, अतएव उक्त एक ही प्रतिके आधारसे इसका संशोधन कराया गया है ।

२ दृष्टेपदेन । इस छोटेमें पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता आचार्य देवनन्दि या पूज्यपाद हैं । श्रुत्युक्त पं० बाजीनाथ बागूजी पाठक भी ए० ने एक बगरी ग्रन्थके आधारमें प्रकट किया है कि सनमणीय दुर्गिनीय नामका राजा पूज्यपादका शिष्य था और इस राजाने वि० सं० ५३५ से ५७० तक राज्य किया है । इसके सिवाय देवमनमूर्तिने अपने 'दार्शनिक' नामक प्राकृतग्रन्थमें—जो वि० सं० १९० में रचा गया है—लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वामनन्दिने वि० सं० ५२६ में शक्तिधर्मपकी स्थापना की थी । इन दोनों प्रमाणोंसे मान्य होता है कि देवनन्दि आचार्य विष्णुकी छठी सताब्दिमें हो गये हैं । उनके बनाये हुए सर्वार्थसिद्धिटीका, जेनेन्द्रव्याकरण और समाधितत्र ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।

इष्टोपदेशकी टीकाके कर्ता पण्डितवर आशाधर हैं। उन्होंने अनगर धर्माश्रुतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं० १३०० में समाप्त की थी, और यही आश्रम उनका अन्तिम ग्रन्थ था। अतः वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं। उनके बनाये हुए बीसों ग्रन्थ हैं और उनमेंसे बहुतसे उपलब्ध भी हैं। वे अपने 'जिनयज्ञकल्प' नामक ग्रन्थमें जो वि० सं० १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है—अपने उस समय तकके बनाये हुए जिन जिन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं, उनमें इष्टोपदेश टीकाका भी नाम है। इसमें मालूम होता है कि यह टीका १२८५ से पहले बनी है। यह टीका उन्होंने सागरचन्द्र मुनिके शिष्य जिनयज्ञचन्द्रकी प्रेरणासे बनाई थी, ऐसा टीकाके अन्तिम श्लोकोंसे मालूम होता है। \*

श्रीयुग ५० पद्मालालजी बाकलीवालने जयपुरके किमी पुस्तकालयकी प्राचीन प्रतिसे इस ग्रन्थकी प्रेमकापी की थी। उसी परमे यह ग्रन्थ छापया गया है।

३ नीतिसार और ४ धृतावतार। दिगम्बरजैनमम्प्रदायमें इन्द्रनन्दि नामके अनेक आचार्य और मठारक हो गये हैं। उनमेंसे एक इन्द्रनन्दि धृतावतारके और एक नीतिसारके कर्ता हैं। दोनोंके कर्ता एक नहीं मालूम होते। हमारी समझमें धृतावतारके कर्ता तो वे इन्द्रनन्दि हैं, जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मतसार कर्म-काण्डकी ३९६ वीं गायामें गुरुहपसे किया है—

यरइदनेदिगुरुणो पासं सोऊण सयलसिद्धतं।

सिरिकणयनंदिगुरुणा सत्तहाणं समुद्धिदं ॥ ३९६ ॥

लेखान्तरोंने यह सिद्ध किया जा चुका है कि नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दि है। अतः धृतावतारके कर्ता लगभग इसी समयके आचार्य हैं। नीति-सारके कर्ता ६५१ इन्द्रनन्दि जान पड़ते हैं, जो नेमिचन्द्रमें पीछे हुए हैं; क्योंकि वे नीतिगारके ७० वें श्लोकमें आचार्य नेमिचन्द्रका उल्लेख करते हैं। नीतिगारकी रचनामें और मुनिधर्मगम्यग्रन्थों उपदेशोंमें भी मालूम होता है कि वह ग्यारहवीं ही नहीं बल्कि १३ वीं शताब्दिके भी बादका बना हुआ ग्रन्थ होगा।

नीतिगारका संशोधन जयपुरकी एक प्रतिमें और एक बनारसीमें छपी हुई पुस्तकपरसे कराया गया है। धृतावतार सोलापुरकी जैन-पुस्तकालयों द्वारा प्रकाशित। मगदीटीकायुक्त पुस्तकपरसे छपाया गया है।

\* पण्डित आशाधरक विषयमें विज्ञान ज्ञानके लिए हमारी लिपी हुई 'विज्ञान-समाध' के द्वितीय खण्डों पढ़िए।

५ मोंक्षपंचाशिका । इनके कर्त्ता का नाम माधुन नहीं हुआ । धीयुन का  
मुगलकभीरवी मुगलरके पग इनकी प्रति थी, उगी परने यह छागई गई है ।

६ अध्यात्मनरसिणी । गमोदय नामके कई आचार्य हो गये हैं । माधुन  
नहीं उन्होंने यह किम मोमदेवकी बनाई हुई है । यदि बसालिलकके कर्त्ता ही  
इनके कर्त्ता हैं। तो उनका समय विष्णुकी ११ वीं शताब्दि है । उन्होंने अपना  
सर्वाभिलष शक सन् ८८१ में बनाकर गनाम किया है । इसकी एक प्रति  
हमें ६० इन्द्रलालजी साहित्यशास्त्रीके द्वारा जयपुरके किमी प्राचीन पुस्तकालयमें  
प्राप्त हुई थी । उगी परग इनका सम्पादन हुआ है ।

७ पात्रकेसरि-स्तोत्र । इसका कर्त्ताविम नाम बृहस्पतमस्वर स्तोत्र  
माधुन होता है । इनके कर्त्ता आचार्य पात्रकेगरी हैं, इस कारण इन 'पात्र-  
केसरिस्तोत्र' भी कहते हैं । विद्यानन्दि और पात्रकेगरी एक ही हैं, यह हम  
अपने 'स्यामुदाविगार्पण विद्यानन्दि' नामक लेखमें ( जैनहिन्दी वॉ १  
अंक १ ) अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं । विद्यानन्दि विष्णुकी १ वीं शताब्दिमें  
हुए हैं, यह भी उक्त लेखमें प्रमाणित किया जा चुका है ।

इस ग्रन्थके साथ एक टीका भी प्रकाशित की जाती है, परन्तु टीकाकर्त्ता  
अज्ञान नाम प्रकट नहीं करत हैं ।

स्वर्गीय दामोदर गड माणिक्यचन्द्रजीके पुस्तक-भाण्डारमें इसकी एक बहुत प्राणें  
और प्राचीन प्रत थी, उगी परने यह स्तोत्र छायाया गया है ।

यह स्तोत्र केवल स्तोत्र ही नहीं, किन्तु एक बहुत दार्शनिक ग्रन्थ है । इसमें  
जैनधर्मकी अनेक बातों पर एक विलक्षण ही प्रकाश डाला गया है ।

८ अध्यात्माष्टक । इनके कर्त्ता ने ही कादिरावगूरि जान पकते हैं जिन्होंने  
सन् १४७ में पार्श्वनाथवरित नामक ग्रन्थ बनाया है और जो इसी ग्रन्थ-  
शालामें प्रकाशित हो चुका है ।

९ छारित्रिनातिका । इनके कर्त्ता अमिनगतिगूरि हैं और वे शायद शुभापिन-  
गन्दोद, चर्मोरीक्षा, अमितिगतिभावराचार आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रसिद्ध अमि-  
नगतिगतिगूरि हैं । शुभापिन-गन्दोद वि० सं० १०७० में समाप्त  
है, अतएव उनका समय विष्णुकी स्यारहवीं शताब्दि निश्चित है । ( विशेष  
नोट देखें विद्वत्प्रसादाका तीसरा लेख । )

बन्धस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रवर्गिणां ।  
 द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥ ७ ॥  
 स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।  
 बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ ८ ॥  
 अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव सचिद्वृणां ।  
 दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥  
 ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः ।  
 अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा ॥ १० ॥  
 वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशात्सिनः ।  
 योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ॥ ११ ॥  
 बन्धहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः ।  
 मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्त्वमशिश्रियन् ॥ १२ ॥  
 ममाहंकारनामान्नां सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।  
 यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥  
 शब्ददन्तात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।  
 आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥  
 ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।  
 तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥  
 मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।  
 इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ॥ १६ ॥  
 ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नो कषायाश्च तन्मयाः ।  
 तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥ १७ ॥  
 तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती ।  
 तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥ १८ ॥

तदर्थानिन्दिष्यैगुंद्मं गुह्यति द्वेष्टि रम्यते ।  
 ततो बंधो धमन्त्येवं मोक्षपूद्यतः पुमान् ॥ १९ ॥  
 तरमादेतस्य मोक्षस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।  
 ममाहंकारयोश्चात्मनिवनाशाय कुर्याद्यत्नं ॥ २० ॥  
 बंधदेतुषु मुख्येषु नश्यन्तु कामशस्तयः ।  
 शपोऽपि रागद्वेषादिबंधदेतुर्विनश्यति ॥ २१ ॥  
 ततस्तन्वं बंधदेतूनां तमम्नानां विनाशतः ।  
 बंधप्रणादान्मुक्ताः सन्न धमिष्यमि संसृता ॥ २२ ॥  
 बंधदेतुविनाशस्तु मोक्षदेतुपरिमहात् ।  
 परस्परदिक्कृत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः ॥ २३ ॥  
 स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारिभ्रितयात्मकः ।  
 मुक्तिदेतुर्जिनोपहतं निर्जरामपरक्रियाः ॥ २४ ॥  
 जीवाद्यो भवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।  
 ते तथ्येति या भद्रा सा सम्याग्दर्शनं स्मृतं ॥ २५ ॥  
 प्रमाणमयनिर्क्षेपयो वाधात्म्येन निश्चयः ।  
 जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तविष्यते ॥ २६ ॥  
 चेतसा यत्तन्मा तन्वा कृतानुमतकारितः ।  
 पापक्रियाणां वस्तुषां सद्यारिभ्रमुपति तत् ॥ २७ ॥  
 मोक्षदेतुः पुनर्द्वेषा निश्चयप्यवहारतः ।  
 तद्वाचः साध्यरूपः स्याद्विर्तीयस्तस्य साधनं ॥ २८ ॥  
 अभिष्टकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।  
 व्यवहारनयो भिष्टकर्तृकर्मादिगोघतः ॥ २९ ॥  
 धर्मादिभ्रह्मज्ञं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषां ।  
 चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहाराश्च मुक्तिदेतुरयं ॥ ३० ॥





# धीमन्नामस्तनमुनिविरचित—

- सम्यग्निर्णतिर्जायादिभ्यश्चतुर्ग्ययाधितिः ।  
 आर्त्तौमपरित्यागादस्थचित्तप्रसक्तिकः ॥ ४३ ॥
- दुर्गतांकट्यापंशः पांदासंपर्यापदः ।  
 अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥ ४४ ॥
- महासह्य परित्यक्तदुर्लभ्याद्युभभावनः ।  
 र्त्तीदगःक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ ४५ ॥
- अप्रमत्त प्रमत्तश्च सदृष्टिदंशमंयतः ।  
 धर्मध्यामास्य चत्वाररत्नायार्थं स्वामिन स्मृताः ॥ ४६ ॥
- दुर्गतांपचारभेदेन धर्मध्यानमिदं द्विधा ।  
 अप्रमत्तं तु तन्गुण्यमितोरर्प्यापचारिकं ॥ ४७ ॥
- प्रत्यक्षं प्रादिनामर्षी ध्यानात्पत्नी यतस्त्रिधा ।  
 ध्यातारविमविधारतामाक्षेपी ध्यानान्यपि त्रिधा ॥ ४८ ॥
- नामर्षीतः प्रवृत्त्याया ध्यातरि ध्यानगुत्तमं ।  
 स्याज्जपन्यं जपन्याया मध्यमायास्तु मध्यमं ॥ ४९ ॥
- भुजेन विकलं नापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः ।  
 प्रबुद्धर्धारश्च भंग्योर्धर्मध्यानस्य सुभुजः ॥ ५० ॥
- सदृष्टिस्तानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा यिदुः ।  
 तरमाद्यदमपेतं हि धर्म्यं तद्वृत्तानमभ्यधुः ॥ ५१ ॥
- आत्मनः परिणामो यो मोहसोभययजितः ।  
 न च धर्मो नपेतं यत्तस्मात्तद्वर्त्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥
- दुर्न्यामयदिदं किञ्चैत्यरूपेण धृतं यतः ।  
 तस्माद्भरतुस्वरूपं हि प्रादुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥
- ततोऽनपेतं यज्ज्ञातं तद्वर्त्म्यं ध्यानमिष्यते ।  
 धर्मो हि वस्तु याधात्म्यमित्यापेऽन्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

यस्मिन्मध्यमार्गे म्यादुर्गं दृष्टव्या पर ।

ननात्रपते यद्वाने नद्वं धर्म्यमितीति ॥ ५१ ॥

एकार्थावताया य य धर्म्यमितीति ॥

नद्वाने निरुद्धं मारुत्य च कारण ॥ ५२ ॥

एक प्रान्तमिच्छात्प्रमाणेन मुम् ।

चिता म्मन्ति निरा ॥ न नन्वानुशासनं वनम् ॥ ५३ ॥

द्वयवशादयमय प्रान्तान्ते यद्वाने ।

न च चित्तरुद्धं यस्मिन्नुक्तं इत्युक्तिनाः ॥ ५४ ॥

एकार्थवता च ॥ न नन्वानुशासनम् ।

यद्य नन्वानुशासनं म्यादुर्गं नमकाधमन्त्रम् ॥ ५५ ॥

प्रान्तान्ते यदा चित्तरुद्धं ननात्रपते ॥

एकार्थवता च ॥ न नन्वानुशासनम् ॥ ५६ ॥

नद्वाने चित्तरुद्धं ननात्रपते ॥

यमन्त्रान्ते म्यादुर्गं म्यादुर्गं म्यादुर्गं ॥ ५७ ॥

अथवागति नानातान्यधमन्त्रा निरुक्ति ।

नन्वय चाप्रमाण्युक्तमायधर्मि म्मन् ॥ ५८ ॥

द्वयार्थकनशदिक कवला न नन्वानुशासनम् ।

अन कारणनिमित्तं चित्तरुद्धं नित्यवता ॥ ५९ ॥

प्रमाणा वा निराद्य म्यादुर्गं च चित्तरुद्धम् ।

एकार्थवता च ॥ न नन्वानुशासनम् ॥ ६० ॥

नन्वानुशासनम् यद्यनया म्यादुर्गम् ।

नन्वानुशासनम् यद्यनया म्यादुर्गम् ॥ ६१ ॥

भूतज्ञानमुदासीन यद्यनया म्यादुर्गम् ।

नन्वानुशासनम् यद्यनया म्यादुर्गम् ॥ ६२ ॥

ध्यायते येन तज्ज्ञानं यं ध्यायति स एव या ।  
 यश्च या ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥  
 भूतज्ञानेन धनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।  
 तत स्थिर मनो ध्यानं भूतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥  
 ज्ञानादर्थतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।  
 एकं पूर्यापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितं ॥ ६९ ॥  
 ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मात्त मिष्यते ।  
 इत्याधिकनयानस्मादुपातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥  
 ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्माद्विधायमाभितैः ।  
 तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥  
 एवं ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानयतिनी ।  
 ज्ञानांतरापराभृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमरिता ॥ ७२ ॥  
 एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।  
 ध्यानमेवेकमखिलं निरुक्तं निधयाश्रयात् ॥ ७३ ॥  
 स्यात्सामं स्यात्सामि स्येन ध्यायेत्स्यस्मै स्यतो यतः ।  
 यद्वारकमयस्तस्माज्ज्ञानमात्मैव निधयात् ॥ ७४ ॥  
 संगत्याग कदायाणां निषदो घतधारणं ।  
 मनोऽक्षाणां जयद्येति गामधी ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥  
 इन्द्रियाणां प्रवृत्ती च निवृत्ती च मनः प्रभुः ।  
 मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥  
 ज्ञानयैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पद्यवर्तिनः ।  
 जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिययाजिनः ॥ ७७ ॥  
 येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं बलं मनः ।  
 स एषोऽवासरनीयोऽथ न श्रेय विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥



1



ध्यायते येन तस्यानं यो ध्यायति स एव या ।  
 यच्च या ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥  
 भुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।  
 ततः स्थिरं मनो ध्याने भुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥  
 ज्ञानादधीतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।  
 एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितं ॥ ६९ ॥  
 ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्दस्माद्य भिद्यते ।  
 द्रव्याधिकनयात्तस्माद्द्रव्यातीत्य ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥  
 ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्माद्विधयमाभितैः ।  
 तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥  
 इष्टं ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्तन्तानवर्तिनी ।  
 ज्ञानांतरापरापृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमरिता ॥ ७२ ॥  
 एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।  
 ध्यानमेवेदमविरलं निरुक्तं निश्चयास्तयात् ॥ ७३ ॥  
 स्यात्मानं स्यात्मानि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै श्रुतो यतः ।  
 यद्वारकमयस्तस्माज्ज्ञानमात्मेव निश्चयात् ॥ ७४ ॥  
 संगत्यागः कवापाणां निघटो प्रतधारणं ।  
 मनोऽक्षाणां जयद्येति नामघी ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥  
 इन्द्रियाणां प्रवृत्ता च निवृत्ती च मनः प्रभुः ।  
 मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥  
 ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पद्यवर्तिनः ।  
 जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिययाजिनः ॥ ७७ ॥  
 येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं शलं मनः ।  
 स एवोऽशास्त्रनीत्योऽयं न र्वय विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥



यस्तत्तमक्षमादि स्याद्दुर्मा वृत्ततया पर ।

ततोऽनपेतं यद्व्यान तद्वा अस्मिन्मूर्तिनि ॥ ११ ॥

एकाग्रचित्तारोधा य एस्मिन्नेत वर्जिते ।

तद्व्यान निजरातनु मयस्म्य च कारण ॥ १२ ॥

एकं प्रधानमित्याह्वयमालवन मुष्य ।

चितां स्मृति निरोध तु तस्यास्त्वेष्य वृत्तते ॥ १३ ॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्शितम् ।

तत्र चित्तानिरोधा यस्तद्व्यान व्रजणर्जितम् ॥ १४ ॥

एकाग्रग्रहण चात्र य व्यग्रविनिवृत्तये

व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्याद्व्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ १५ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिता नानालवनवर्तिनी

एकालंवन एवेना निष्कण्ठि निराह्वय ॥ १६ ॥

तदास्य योगिना योगधिनकाग्रानेराग्रतः

प्रसंख्यानं समाधि स्याद्व्यान स्वर्णफलम् ॥ १७ ॥

अथवांगति जानार्तात्ययमात्मा निरुक्तिव

तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतम् ॥ १८ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेक केवला वा तयोक्तिव ।

अंतःकरणवृत्तिस्तु चित्तारोधा नियंत्रणा ॥ १९ ॥

अभायो वा निरोधः स्यात्स च चित्तानस्यय

एकचित्तात्मको यद्वा स्वस्मिन्निर्वाण्योऽग्रतः ॥ २० ॥

तत्रात्मन्यसहाये र्याद्यताया स्यान्निराधनम् ।

तद्व्यानं तदभायो वा स्वस्मिन्निमयश्च स ॥ २१ ॥

भुतज्ञानमुद्दामीनं यथार्थमतिनिश्चलम् ।

स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमातमुत्कर्षतम् ॥ २२ ॥

ध्यायते येन तद्व्यानं यो ध्यायति स एव या ।  
 यच्च या ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥  
 श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।  
 ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥  
 ज्ञानादधीतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।  
 एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मंति कीर्तितं ॥ ६९ ॥  
 ध्येयार्थाल्लेखनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मात्तु मियते ।  
 द्रव्याधिकन्यासस्माद्दुष्पातेयं ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥  
 ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्माद्विद्ययाभाभिर्तैः ।  
 तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥  
 इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संस्तानवर्तिनी ।  
 ज्ञानातरापराभूष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमरीरिता ॥ ७२ ॥  
 एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।  
 ध्यानमेवेदमन्विलं निरुक्तं निश्चयाप्तयान् ॥ ७३ ॥  
 स्वात्मानं स्वात्ममि स्येन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।  
 यद्वारकमयस्तस्माज्ज्ञानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥  
 संगत्यागः कयायाणां निमदो व्रतधारणं ।  
 मनोऽक्षाणां जयद्येति रामघी ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥  
 इन्द्रियाणां प्रवृत्ता च निवृत्ता च मनः प्रभुः ।  
 मन एव जयेत्तस्माज्जितं तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥  
 ज्ञानवैराग्यरज्जुभ्यां नित्यमुत्पद्यवर्तिनः ।  
 जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिययाजिनः ॥ ७७ ॥  
 येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चर्लं मनः ।  
 स एवोऽग्रामनीयोऽग्रं न वेद्य विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

यस्तुत्तमक्षमादिः स्याद्द्विर्मां दशतया परः ।  
 ततोऽनपेक्षं यद्व्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितं ॥ ५५ ॥  
 एकाग्रचित्तारोधां यः परिमर्द्देन वर्जितः ।  
 तद्व्यानं निजराहेतुः संश्रम्य च कारणं ॥ ५६ ॥  
 एकं प्रधानमिन्याद्गुग्ममालंबनं मुखं ।  
 चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्जनं ॥ ५७ ॥  
 द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितं ।  
 तत्र चित्तानिरोधां यस्तद्व्यानं वमणुर्जिनाः ॥ ५८ ॥  
 एकाग्रग्रहणं चात्र वै व्यग्रविनिवृत्तये ।  
 व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्याद्व्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥  
 ग्रन्थाहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीं ।  
 एकालंबनं एतेना निरुणद्धि त्रिशुद्धधी ॥ ६० ॥  
 तदास्य योगिना योगाधिनैकाग्रनिरोधनं ।  
 प्रसंग्यानं समाधिः स्याद्व्यानं स्पष्टफलप्रदं ॥ ६१ ॥  
 अथवांगतिं जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः ।  
 तत्त्वेषु चाग्रगण्यव्यादृमायग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥  
 द्रव्यार्थिकनयादेकं केवलां वा तथोदितः ।  
 अंतःकरणवृत्तिस्तु चित्तारोधां नियंत्रणा ॥ ६३ ॥  
 अभ्यासो वा निरोधः स्यात्स च चित्तान्तरद्वयः ।  
 एकचित्तात्मको यद्वा स्वसंविधितयोजितः ॥ ६४ ॥  
 तत्रात्मन्यमहायं यद्विधायाः स्याद्विरोधनं ।  
 तद्व्यानं तदभायो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥  
 भुतज्ञानमुक्तामीनं यथार्थमतिनिश्चलं ।  
 स्वर्गापवर्गफलं ध्यानमातर्मुहूर्ततः ॥ ६६ ॥

अन्यत्र वा शक्तिदेने प्रशस्ते शालुके समे ।  
 चेतनाचेतनादोषध्यानविम्विद्विते ॥ ९१ ॥  
 भूमले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।  
 सममृज्वायतं गार्धं निःकंपायययं दधत् ॥ ९२ ॥  
 मासापन्यस्तानिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।  
 द्वाविंशदोषनिर्मुक्तकायोऽसर्गव्ययस्थितः ॥ ९३ ॥  
 प्रत्याहृत्याक्षुष्टाकास्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।  
 चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥  
 निरस्तनिद्रां निर्भीतिनिरालस्यो निरंतरं ।  
 स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्बिन्दुद्वये ॥ ९५ ॥  
 निश्चयाद् व्यवहाराद्य ध्यानं द्विविधमागमे ।  
 स्वरूपालंबनं पृथं परालंबनमुत्तरं ॥ ९६ ॥  
 अभिधमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।  
 भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिधं ध्यायत्यनाहुतः ॥ ९७ ॥  
 आशापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।  
 यथागममविक्षिप्तचेतसा चित्तयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥  
 नाम च स्थापनं द्रव्यं भावयेति चतुर्विधं ।  
 समस्तं व्यस्तमप्येतद्व्ययमध्यात्मवेदिभिः ॥ ९९ ॥  
 वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।  
 गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्थावृणपर्ययी ॥ १०० ॥  
 आदौ मध्येऽवसाने यद्वाह्म्यं व्याप्य तिष्ठति ।  
 तदि ज्योतिष्मदुद्भूतमध्यात्मध्वं तद्वर्ततां ॥ १०१ ॥  
 तत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मति प्रदक्षिणं ।  
 असिभाउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनं ॥ १०२ ॥

संचितयज्ञमुपेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।

जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्यपराह्मुखः ॥ ७९ ॥

स्वाध्यायः परमस्तावज्जयः पंचनमस्कृतेः ।

पठनं वा जितेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकामचेतसा ॥ ८० ॥

स्वाध्यायाद्ब्रह्मज्ञानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।

ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

येऽब्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।

तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ह्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८२ ॥

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा ।

धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्वियत्तिर्ना ॥ ८३ ॥

यत्पुनर्वचकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।

श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्ताद्विषेधकं ॥ ८४ ॥

ध्यातारधेय इत्यवधुतसागरपाग्मा ।

तत्किमल्पधुनैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तिन ॥ ८५ ॥

धर्तारो न चेत्सन्ति यथाह्यातस्य संश्रति ।

तत्किमन्ये यथाशक्तिमाधत्न्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥

सम्यागुरूपदेशेन समम्यस्यन्नारतं ।

धारणार्माष्ट्याद्ब्रह्मध्यानं प्रत्ययानापि पश्यति ॥ ८७ ॥

यथाभ्यासेन शतश्राणि स्थिराणि ह्युर्महान्नयापि ।

तथा ध्यानमपि ह्येत्यै ह्यमनेभ्यासवर्तिनो ॥ ८८ ॥

ययोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुगुन्महने यथा ।

तदेव परिक्रमार्द्रो हृन्दा ध्यायन् धीरधीः ॥ ८९ ॥

गून्वागारे गुहायां वा निशा वा यदि वा निर्दिश ।

ह्रींरश्मिर्ग्रीवर्जीयानां शुक्लाणामप्यगोचरे ॥ ९० ॥

अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रदास्ते प्रासुके समे ।  
 चेतनाचेतनादोषध्यानविम्विद्विजिते ॥ ९१ ॥  
 भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।  
 समभुज्यायतं गार्त्रं निःकंपाचयवं दधन् ॥ ९२ ॥  
 नासाग्रमन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।  
 हार्त्रिदादोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥  
 मन्यादत्यासुर्लुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।  
 चित्तां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥  
 निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरं ।  
 स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्पिगुह्यमे ॥ ९५ ॥  
 निश्चयाद् व्यवहाराद्य ध्यामं द्विविधमागमे ।  
 स्वरूपालंभनं पूर्वं परालंभनमुत्तरं ॥ ९६ ॥  
 अभिन्नमाद्यमन्यन्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।  
 भिन्ने हि विदिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥ ९७ ॥  
 आस्तापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।  
 यथागममधिसितचेतसा क्वितयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥  
 माम च स्थापनं द्रव्यं भावयेति चतुर्विधं ।  
 समस्तं द्यवस्तमप्येतद्द्रव्यमध्यात्मदेहिभिः ॥ ९९ ॥  
 द्वाय्यस्य वाचकं माम प्रतिमा स्थापना मया ।  
 गुणपर्यवयद्द्रव्यं भावः स्याद्गुणपर्यधी ॥ १०० ॥  
 आदौ मापेज्यगाने दशाक्रमेण व्याप्य तिष्ठति ।  
 हृदि उपोतिष्मद्गुह्यं प्रज्ञामापेयं तद्वर्तते ॥ १०१ ॥  
 द्रव्यं कजे चतुःपदे उपोतिष्मंति दक्षिणं ।  
 अनिजाउत्तासराणि धेदादि परमेष्ठिनो ॥ १०२ ॥

ध्यायेद्दण्डो व तद्धन्मंत्रानुदक्षिणः ।

मत्याविज्ञाननामानि मत्यादिज्ञानसिद्धये ॥ १०३ ॥

सताक्षरं महामंत्रं मुखरंध्रेषु सततम् ।

गुरुपदेशतो ध्यायेद्विच्छिन्नं दूरभयादिकं ॥ १०४ ॥

दृष्टेऽष्टदलं पद्मं घर्गैः पूरितमष्टभिः ।

दलेषु कर्णिकायां च नाभाभिधितमर्हतां ॥ १०५ ॥

गणभृद्दलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।

क्षीणीमंडलमध्यस्थं ध्यायेदध्ययवेद्येयं तत् ॥ १०६ ॥

अकारादिहकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः ।

स्यमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्रपुरस्सरान् ।

ध्यायन्ति यद्विह स्वष्टं नामध्येयमयैहि तत् ॥ १०८ ॥

जिनेन्द्रप्रतिविज्ञानि कृत्रिमाण्यकृतानि च ।

यथोक्तान्पागमे तानि तथा ध्यायेद्वर्तकितं ॥ १०९ ॥

यथैकमंकदा द्रव्यमुत्पितसु स्थास्तु मन्थरं ।

तथैव सत्यंदा सत्यमिति तस्य विधितयेत् ॥ ११० ॥

श्वेतनोऽश्वेतनो वाथो यो यथैव व्यवस्थितः ।

तथैव तस्य यो भावो याथात्म्ये तस्मादुच्यते ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वययायाः प्रतिक्षणम् ।

उन्मथन्ति निमथन्ति जलकलोलवमले ॥ ११२ ॥

यद्विभक्तं यथापूर्वं यद्यप्यभाविजन्यमिति ।

विवर्तने यद्विजाय तद्वैदमिह च तत् ॥ ११३ ॥

सद्वृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमयस्तिनः ।  
 स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥ ११४ ॥  
 एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं ।  
 प्रतिक्षणमनार्द्यतं सर्वं ध्येयं यथास्थितं ॥ ११५ ॥  
 अर्थव्यञ्जनपर्याया मूर्त्तामूर्त्ता गुणाश्च ये ।  
 यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥ ११६ ॥  
 पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांचरं ।  
 पट्टिर्धं द्रव्यमाप्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥ ११७ ॥  
 सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते ।  
 ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥ ११८ ॥  
 तत्रापि तत्त्वतः पञ्च ध्यातव्याः परमेश्विनः ।  
 चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्यामीति निष्कलः ॥ ११९ ॥  
 अनंतदर्शनज्ञानसम्यक्त्यादिगुणात्मकं ।  
 स्वोपात्तानंतस्त्वक्तदारीराकारधारिणः ॥ १२० ॥  
 साकारं च निराकारममूर्त्तमजरामरं ।  
 जिनविषमिय स्वच्छुस्कादिकप्रतिविवितं ॥ १२१ ॥  
 लोकामशिसरारुदमुद्दसुखसंपदं ।  
 सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निरुतकल्मषं ॥ १२२ ॥  
 तथायमात्ममातानां देवानामधिदैवतं ।  
 प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानंतचतुष्टयं ॥ १२३ ॥  
 दूरमुत्सृज्य भूभागं नमस्तलमधिष्ठितं ।  
 परमौदारिकस्यांगप्रभाभस्ति सभास्करं ॥ १२४ ॥

१ पृथी ध्वञ्जनपर्वोऽथ वागव्योऽवधरस्थिर । गुरुः प्रतिक्षणवर्षो पर्यायार्थ-  
 द्रव्यः । १ उद्धृत ।



चतुर्विंशन्महाश्रयैः प्रातिहार्यैश्च भूषितं ।  
 मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसमाभिः सन्निपेक्षितं ॥ १२५ ॥  
 जन्माभिपेक्षप्रमुखप्रातपूजातिशायिनं ।  
 केवलज्ञाननिर्णीतध्विष्वत्त्वोपवेशिनं ॥ १२६ ॥  
 प्रभास्वलक्षणाकीर्णसंपूर्णदिग्प्रविमहं ।  
 आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्वालानलोज्वलं ॥ १२७ ॥  
 तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं ।  
 परमात्मानमर्हतं ध्यायेत्तिःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥  
 रीतिरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः ।  
 स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥ १२९ ॥  
 सम्यग्ज्ञानादिसंपन्नाः प्रातस्तमहर्धयः ।  
 तथाकलक्षणाः ध्येया सूर्युपाध्यायसाधवः ॥ १३० ॥  
 एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधं ।  
 अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विर्धेय तदवस्थितं ॥ १३१ ॥  
 द्रव्यध्येयं बहिर्धेयस्तु चेतनाचेतनात्मकं ।  
 मायध्येयं पुनर्धेयसक्तिमध्यानपर्ययः ॥ १३२ ॥  
 ध्याने हि विभ्रते स्वर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटं ।  
 आलेखितमियाभाति ध्येयस्यासक्तिधावपि ॥ १३३ ॥  
 धातुपिण्डे स्थितेर्धैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।  
 ध्येयपिण्डस्थमित्याहुरत एव च केवलं ॥ १३४ ॥  
 यदा ध्यानबलाद्दयाता शुर्वीकृत्य स्वविमर्शं ।  
 ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वर्यं ॥ १३५ ॥  
 तदा तथाविधध्यानसंयित्तिभ्यस्तकल्पनः ।  
 स एव परमात्मा स्याद्वैततेयश्च मन्मथः ॥ १३६ ॥

सोऽयं समस्तसिद्धिभाष्यतद्देवीकरणं वदत ।

एतदेव समाधिः श्वाहोक्तद्वयकालयुग्मः ॥ १३३ ॥

विमलं बहुमानेन ज्ञात्वा भद्राय तप्यत ।

अदेयं समानमप्येतन्माध्यम्यं तत्र विद्यता ॥ १३८ ॥

माध्यम्यं समतोपेक्षा देवायं साम्यमस्पृह ।

देवप्यं परमः शान्तिरियेकोऽयोंऽभिधीयते ॥ १३९ ॥

संक्षेपेण यदग्रोक्तं विस्तरात्परमागमे ।

तास्य ध्यानमेव श्वाहोक्तं तु परमेषु ॥ १४० ॥

व्यवहारमयादेयं ध्यानमुक्तं पराभयं ।

त्रिधयादधुना स्वात्माहं वनं तस्मिन्प्यते ॥ १४१ ॥

ब्रुवता ध्यानराजदार्थं यदहम्यमयादिमम् ।

तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥ १४२ ॥

दिधातुः स्वं परं ज्ञात्वा भद्राय च यथारिधिति ।

विदायान्यदगार्थित्यान् स्वमेवार्थं तु पश्यतु ॥ १४३ ॥

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं श्वात्मन्यारोपयेक्षतः ।

तत्रैकाग्रं समागच्छ न किञ्चिदपि वितयेत् ॥ १४४ ॥

यस्तु जालं प्यते भौती भावना कल्पनामया ।

सोऽयस्यं मुञ्चति स्वस्मिन्बहिर्धिता विमर्ति च ॥ १४५ ॥

तस्मान्भोह्यहाजाय बहिर्धितानि वृत्तये ।

स्वात्मानं भावयेत्पूर्यमेकामस्य च सिद्धये ॥ १४६ ॥

तथा हि चेतनोऽर्मह्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।

हृद्वात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।

अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।  
 अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९ ॥  
 अचेतन भवे नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनं ।  
 ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥  
 योऽत्र स्वस्यामिसंबंधो ममाभूद्वपुषा सह ।  
 यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥ १५१ ॥  
 जीयादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना ।  
 पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि यस्तु ॥ १५२ ॥  
 सद्व्ययमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।  
 स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥ १५३ ॥  
 सखेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।  
 असखेयास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥  
 यन्न चेतयते किञ्चिन्नाचेतयत किञ्चन ।  
 यचेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं ॥ १५५ ॥  
 यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।  
 चेतनीयं यदत्रापि तथिदृश्यं समस्म्यहं ॥ १५६ ॥  
 स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तुपेक्ष्यमिदं जगत् ।  
 नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥ १५७ ॥  
 मत्तः कायादयो मिसास्तेभ्योऽहमापि तत्त्यतः ।  
 नाऽहमेष्टा किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन ॥ १५८ ॥  
 एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्यात्मानं भिन्नमन्यतः ।  
 विधाय तन्मयं भावं न किञ्चिदपि चिंतये ॥ १५९ ॥  
 चिन्तामायो न जेतानीं तुच्छो मिथ्यादृशामिह ।  
 दृग्बोधमाग्यरूपस्य यत्त्वमवेदने हि नः ॥ १६० ॥

वेद्यत्वं वेदकार्यं च यात्यवरय त्वेन योगिनः ।  
 तत्स्वर्गवेदमं प्रादुरात्मनोऽनुमयं हरा ॥ १६१ ॥  
 स्वपरत्वाभिरूपत्वाच्च तस्य कारणान्तरं ।  
 तन्मिथ्या परिच्यज्य स्वसंदिश्यैव वेद्यता ॥ १६२ ॥  
 दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्ज्ञानं पर्यधुदातिना ।  
 चित्तमामान्यविशेषात्मा स्यात्स्मर्तवानुभूयता ॥ १६३ ॥  
 कर्मजंभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्यदे ।  
 तस्यभावमुदासीनं पर्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥  
 दन्मिथ्यामिनिवेदो न मिथ्याज्ञानेन चोद्भिन्नतः ।  
 तन्मध्यस्थं मित्रं रूपं स्वमिन्संवेद्यता स्वयं ॥ १६५ ॥  
 न हान्द्रियधिया हृद्यं रूपादिरदित्यतः ।  
 वितर्कास्तत्र पश्यति ते द्यविस्वष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥  
 उभयस्मिन्नरुद्धं तु स्याद्विस्पष्टमर्तद्विद्यं ।  
 स्वमयिद्यं हि तद्रूपं स्वसंदिश्यैव हस्यता ॥ १६७ ॥  
 वपुषोऽप्यतिमासंऽपि स्यात्तद्व्यंज्यं चकासते ।  
 चेतना ज्ञानरूपेभ्यं स्वयं हृदयत एव हि ॥ १६८ ॥  
 समाधिरुधेन यदात्मा बोधात्मा नानुभूयते ।  
 तथा न तस्य तद्व्यानं भूतानाम्मोह एव सः ॥ १६९ ॥  
 तदेवानुमदधायमेकाग्रं परमृच्छति ।  
 तथात्मारधीनमानंदमेति वाचा मगोचरं ॥ १७० ॥  
 यथा निर्यातदेशस्यः मदीषां न प्रकंपते ।  
 तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्रमुज्झति ॥ १७१ ॥  
 तथा च परमेकाग्रणाद्विर्त्येषु सत्स्वपि ।  
 अन्यत्र किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पर्यतः ॥ १७२ ॥

अत एवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।  
 शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥ १७३ ॥  
 ततश्च यत्तुमुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनं ।  
 तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोद्गतमदर्शनं ॥ १७४ ॥  
 परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंवन ।  
 नैरात्म्यं जगतो यदुन्नीर्जगत्यं तथात्मनः ॥ १७५ ॥  
 अन्यान्माभावो नैरात्म्यं स्यात्सत्तात्मकश्च सः ।  
 स्यात्तददर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनं ॥ १७६ ॥  
 आत्मानमन्यमंशुर्न पश्यन् द्वैतं प्रपद्यति ।  
 पश्यन् विभक्तमन्यभ्यः पश्यत्यात्मानमग्र्यं ॥ १७७ ॥  
 पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यान्शयव्यामिश्रितान्मलान् ।  
 निरवताहमर्माभाय नंनुणाप्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥  
 यथा यथा ममाभ्यासो लक्षणं स्यात्तन्नि स्थितिः ।  
 तमाश्रित्यैवाभास्य स्यादित्येतन्न तथा तथा ॥ १७९ ॥  
 तत्तद्व्यापारोऽप्येव स्यात्तथाप्येवशक्याः ।  
 विशुद्धिस्त्यागिनवाक् तथाभवावधायनी ॥ १८० ॥  
 इह त इह भक्त स्यात् प्रभुमज्ञानागलवनात् ।  
 चाभ्युपगममात्रं पश्यन् न दानवसङ्घयन ॥ १८१ ॥  
 यथायथा न स्यात्तथा न दुष्टादुष्टफलं न वन ।  
 स्यात्तु विनक्तमालम्ब्य नदभ्युपगम्य धीमताः ।  
 साक्षात् यन्नात्मा कृमिण्या रक्तवद्विना ।  
 इति स्यात्तथा कर्म कृता मम ॥ १८२ ॥  
 इति स्यात्तथा कर्म कृता मम ॥ १८३ ॥  
 इति स्यात्तथा कर्म कृता मम ॥ १८४ ॥  
 इति स्यात्तथा कर्म कृता मम ॥ १८५ ॥

तत्रार्था विदितिरूपं निर्मलीकरणाय च ।  
 मायती तेजसाभायी विदित्याद्वारणा वमात् ॥ १८५ ॥  
 ततः पंचनमस्कारैः पंचविंशशतान्वितैः ।  
 पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ॥ १८६ ॥  
 पञ्चादात्मानमर्द्धं ध्यायन्निर्विघ्नलक्षणं ।  
 तिद्धं वा प्यस्तकर्माणममूर्त्तं ज्ञानमास्वरं ॥ १८७ ॥  
 मन्यनर्द्धमात्मानमर्द्धं ध्यायती सती ।  
 अतरिमस्तदृष्टो ध्यान्तिर्भवती मयतीति चेत् ॥ १८८ ॥  
 तत्र चोद्यं यतोऽत्रमाभिर्मायादधयमर्पितः ।  
 स आर्द्धस्थाननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तदृष्टः ॥ १८९ ॥  
 परिणमते येनात्मा भायेन स तेन तन्मयो भवति ।  
 अर्द्धस्थानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥  
 येन भायेन यद्वर्षं ध्यायत्यात्मानमात्मयित् ।  
 तेन तन्मयतां याति सोदाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥  
 अथवा भाविर्ना भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।  
 आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ १९२ ॥  
 ततोऽयमर्द्धत्वस्याथो भावी द्रव्यात्मना राज्ञा ।  
 मय्येष्यात्ते सततस्य ह्याने को नाम विधमः ॥ १९३ ॥  
 किंच ज्ञाते वर्गाई स्यात्तदा जातः फलोद्भवः ।  
 नहि मिथ्यामहाज्जातु विधिर्जिज्ञासते त्वयः ॥ १९४ ॥  
 यादुर्भवंति चासुप्तात्कलानि ध्यानवर्तिना ।  
 धारणाद्यशतः शान्तकृत्स्नपाण्यनेकधा ॥ १९५ ॥  
 गुरुपदेशमाभाय ध्यायमानः समाहितः ।  
 अनंतशक्तिरात्मायं भुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण धरमाद्भ्यस्य मुक्तये ।  
 तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७ ॥  
 ज्ञानं भीरापुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्विपुर्धुतिः ।  
 यत्प्रशस्तमिहान्यथ तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥  
 तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकपन्ते महाप्रहाः ।  
 नश्यन्ति भूतशाकिन्यः कुराः शम्भयन्ति च क्षणात् ॥ १९९ ॥  
 यो यत्कर्म प्रभुर्व्यस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः ।  
 ध्याता तद्वात्मको भूया साधयत्यात्मयाछितं ॥ २०० ॥  
 पार्थनायो मयन्मयी राकर्णीकृतविषदः ।  
 महागुप्तां महामंत्रं महामंदलमाभितः ॥ २०१ ॥  
 निजस्यैवभुतिविंध्यारणाश्च यथोचितं ।  
 निधत्ताग्निपुराणी पद्मानी कुरुते धर्मं ॥ २०२ ॥  
 स्वयमार्णवला भूया महामंदलमध्यगः ।  
 किरीटदुन्दरी पद्मी पीतमूलाभ्यरादिकः ॥ २०३ ॥  
 कृमकीर्त्तनमगुप्ताचारत्नमने मंत्रमुद्यतः ।  
 स्नेहकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमात्मनः ॥ २०४ ॥  
 स स्वये गच्छेद्भूयः स्वये सार्वाणि शान्ताय ।  
 कीर्त्तयन् स्वये भूया गच्छेद्यत्नं यशसि ॥ २०५ ॥  
 स्य तेजोमया भूये स्यन्त्येवात्माशान्तादुल ।  
 र्त्तिनामहं हस्त्याश्च व्याघ्रं श्यामांमहाभ ॥ २०६ ॥  
 स्वयं सुधामया भूया यत्नयन्मया ॥ २०७ ॥  
 अथैवमात्मनादुःखं दहति तस्मात्स्वयत्नः ॥ २०८ ॥  
 श्रितगर्हीयमया भावा श्रान्तवर्त्तमानं मनसु ।  
 कर्त्तव्यं योऽपि योऽपि विदुषाणि कर्त्तव्यमाभ ॥ २०९ ॥

ध्यानागस्तनमुनिविरचित—

- किमत्र बहुनोनेन पद्यत्कर्म चिकीर्षति ।  
तदेयतामयो भूत्वा तत्तप्तियतेयत्ययम् ॥ २०९ ॥
- दाति कर्माणि दातात्मा पूरे कूरो भयप्रय ।  
दातकुराणि कर्माणि साधयन्त्येव साधकाः ॥ २१० ॥
- आकर्षणं वशीकारः रतंभनं मोहनं वृत्तिः ।  
निर्विपीकरणं दातिविद्वेषोष्पादनिमदाः ॥ २११ ॥
- एवमादीनि कार्याणि हस्यन्ते ध्यानयतिना ।  
ततः समरर्त्ताभायसफलत्वाच्च विभ्रमः ॥ २१२ ॥
- यत्पुनः पूरणं हुंमो रेघनं वदनं वृषः ।  
सकलीकरणं मुदामंत्रमंडलधारणाः ॥ २१३ ॥
- कर्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिङ्गमासनं ।  
प्रमाणं वादनं धीर्यं जातिनामयुतिर्विना ॥ २१४ ॥
- भुजवज्रनेत्रसंख्यां भायः कूरस्तवेतरः ।  
वर्णस्पर्शस्वरोज्यस्था यस्त्र भूषणमायुर्ध ॥ २१५ ॥
- एवमादि यदन्यथ दातकुराथ कर्मणे ।  
मंत्रयाज्ञाविषु धोक्तं तद्वृत्तान्तस्य परिच्छेदः ॥ २१६ ॥
- यदात्रिकं फलं किञ्चित्फलमायुषिकं च यत् ।  
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमंत्राप्रकारणं ॥ २१७ ॥
- ध्यानस्य च पुनर्मुक्तयो देतुरेतद्यतुप्रयम् ।  
गुरूपदेशः भट्टानं सनाम्यामः स्थिरं मनः ॥ २१८ ॥
- अत्रयमाग्रहं कारुण्यं वृत्तानकलमैदिकं ।  
इह हि ध्यानमाहात्म्यात्प्रापनाय प्रदर्शितं ॥ २१९ ॥
- यद्वृत्तानं सौंदर्यार्थं वा यदैदिकफलायिना ।  
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यता ॥ २२० ॥



तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्यकरणादिषु ।

शुभानुभमलापायाद्विशुद्धं शुक्लमम्यषुः ॥ २२१ ॥

शुचिगुणयोमाद्युक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।

माणिक्यशिक्षाविविक्वं सुनिर्मलं निःप्रकर्षं च ॥ २२२ ॥

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा र्धधनिर्वधनं ।

ध्यानमम्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षुसे ॥ २२३ ॥

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण तुघ्नमोहस्य योगिनः ।

चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च कमात् ॥ २२४ ॥

तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमम्यस्यतः सदा ।

निर्जरासंवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥

आस्रयन्ति च पुण्यानि प्रभुराणि प्रतिक्षणं ।

यैर्महद्भिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ २२६ ॥

तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परं ।

सुखानुभूतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥ २२७ ॥

ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसंपदः ।

चिरं भुवत्या स्वयं भुक्त्वा दीक्षो र्धमवरीं भितः ॥ २२८ ॥

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं ।

विधूयाद्यापि कर्माणि भ्रयते मोक्षमङ्गयं ॥ २२९ ॥

आत्यंतिकः स्वहेतोर्गो विश्लेषो जीवकर्मणां ।

स मोक्षः कलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ २३० ॥

कर्मबंधनाविध्यंसादूर्ध्वं ग्रज्यास्वभायतः ।

क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्छ्रूढाममृच्छति ॥ २३१ ॥

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।

मुक्ती तु तस्य तौ गताः क्षयात्तद्धेतुं कर्मणां ॥ २३२ ॥

ततः सोऽग्रं तस्य कस्य हारीर्यमाप्सतः ।

किंचिदुक्तहाकारसमाप्ते स्वगुणान्मकः ॥ २१३ ॥

स्वरूपापरिधतिः प्रसस्ता हा महीणकर्मणः ।

माभाषो माप्यपितन्यं न पितन्यमनर्थकं ॥ २३४ ॥

स्वल्पं सर्वज्ञानात् स्वपदस्य प्रकाशनं ।

मानुसंहयत्तेशी परमात्मकाशनं ॥ २३५ ॥

तिष्ठत्येव स्वर्ग्येण क्षीणे कामाणि पौरुषः ।

यथा माणित्वहेतुभ्यः क्षीणे मांसगिके मले ॥ २३६ ॥

न मुच्यति न संनिते न स्वाध्यानप्ययस्यति ।

न रम्यते न च दंष्ट्रि किंतु स्वस्यः प्रतिक्षणं ॥ ६३/७ ॥

प्रिकृष्टद्विषयं होयमात्मानं च दृष्ट्वास्थितं ।

आमन् पश्यन् निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥ २३८ ॥

अनेकानामहुरीयेदृष्ट्यायसमुत्तमम् ।

सुखं चानुमयन्त्येव तथार्तद्विषमव्युतः ॥ २३९ ॥

मनु चाक्षेः स्तब्धानामनुभोक्तुः सुखं मयम् ।

अतीन्द्रियेषु मुनेषु मोक्षे तत्कीदृशे सुखे ॥ १५ ॥

इति चेन्मन्यसे माहात्म्य भयो मते यतः ।

नाद्यापि घनस त्वं वेत्सि स्वरूपं सुरसङ्गमयोः ॥ २४१ ॥

वात्मायनं निराबाधमतीन्द्रियममखरं ।

॥तिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

अतु संसारिकं खीर्यं समात्मकमशान्भर्त ।

त्वयाऽद्वयसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ॥ २४३ ॥

गोहृद्रोहमवकोधमायाहोमनिर्धत्तम् ।

इःसकारणवर्धस्य हेतुत्वाद्दु.समेव तद् ॥ २४४ ॥



ईशागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः

भीमागसेनमुनिरुद्यधरिप्रकीर्तिः ॥ २५६ ॥

तेन प्रवृद्धभियोगेन गुरुपदेश-

मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतं ।

तत्त्वानुशासनमिदं जगतां हिताय

भीमागसेनविदुषा व्यरधि स्फुटार्थ ॥ २५७ ॥

जिनेन्द्राः सन्धानज्वलनमुत्पातिप्रकृतयः

प्रसिद्धाः सिद्धाय प्रदत्तमसः सिद्धिनिष्ठयाः ।

सदाचार्यो वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः ।

पुनर्ह्युक्तं मरिचमयधिकं पेष्य गुरुयः ॥ २५८ ॥

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुरधोबुराशाविव

ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामो मूर्खोऽस्वस्वर्था ।

शब्दज्योतिषि यस्य दयेण इय स्वाध्यायिकास्त्यमी

स भीमानमराधितो जिनपतिर्ज्योतिरपायास्तु नः ॥ २५९ ॥

इति भीमस्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः ।

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः ।

श्रीपण्डित-आशाधर-कृतसंस्कृतटीकासमेतः ।

टीकाकारस्य मंगलाचरणम् ।

परमात्मानमानस्य सुमुखः स्वात्मसंविदे ।

इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशापरः स्फुटम् ॥

तत्रादौ यो यद्वृणार्थो स तद्वृणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्करोतीति पर-  
मात्मगुणार्थो ग्रंथकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा;—

यस्य स्वयं स्वभावातिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।

तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अस्तु भवतु । किं तन्नमः नमस्कारः कस्मै, तस्मै परमात्मने । परम  
अनाध्येयाग्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिर्जीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः पर-  
मात्मा तस्मै । किंविशिष्टाय, संज्ञानरूपाय सम्यक्सकलार्थसाक्षात्का-  
रित्वादितदत्यन्तसुस्पृष्टत्वादीनामपि लामात्कर्महेतुत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च  
संपूर्णज्ञानं स्वपराबोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै । एवमारण्यस्वरूपमुक्त्वा  
तत्राप्युपायमाह । यस्याभूत्काशो स्वभावातिः स्वभावस्य निर्मल-  
निधत्तचिद्रूपस्य आतिर्लब्धिः कथंचित्ताशाल्म्यपरिणतिः । कृतकृत्यतया  
स्वरूपेऽवस्थितिर्इत्यर्थः । केन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना । क सति,  
अभावे शक्तिरूपतया विनाशे । कस्य, कृत्स्नकर्मणः । कृत्स्नस्य सकलस्य  
द्वर्ध्वभावरूपस्य कर्मण आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तस्य ॥ १ ॥

अनारोपि अग्रतिष्ठत-॥ १ इत्याचरणादिशब्दकर्मणि, रागद्वेषादयो भावकर्मणि ।

अथ शिष्यः ब्राह्मण इत्येव स्वरूपोपलब्धिः कथमिति स्वभ्यात्मनः स्वरूपमात्मना स्वरूपस्य सम्प्रकृतादिगुणाष्टकामिथ्यातिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टाताभावादिति । अत्राचार्यः समाधत्ते,—

योग्यापादानयोगेन ह्यवदः श्यर्णता मता ।  
द्रव्यादिस्यादिसंरक्तायात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

मता अभिप्रेता लोके । कासौ, श्यर्णता सुवर्णमात्रः । कस्य, ह्यवदः सुव-  
र्णाविर्भावयोग्यप्रापणस्य । केन, योग्यानां सुवर्णरतिगामकराणोक्तितानां  
उपादानानां कारणानां योगेन मेटापकेन संपत्त्या दया । एवमात्मनोऽपि  
पुरुषस्यपि न केवलं ह्यवद इत्यपि दृष्टार्यः । मता कथिता । कासौ, आत्मता ।  
आत्मनो जीवस्य मासो निर्मलनिश्चलचेतन्यं । कस्यां सत्यां, द्रव्यादि-  
स्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्त्रयिमात्रः आदिर्येषां क्षेत्रकालमात्रानां ते च ते  
। वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वाद्यो द्रव्याद्ययश्च स्वाद्-  
। इच्छातो विशेषणविशेष्यमात्रः इति समासः । सुद्वयं सुशेर्व  
सुकालः सुमात्र इत्यर्थः । सुशब्दः प्रशस्तार्थः । प्राशस्त्य चार प्रकृतकार्योप-  
योमित्य द्रव्यादिस्वादीनां संगतिः संपूर्णता सरवां सत्यां ।

अथ शिष्यः ब्राह्मण—तर्हि मतादीनामानर्थक्यमिति । भगवन् यदि सुद्रव्यादि-  
सामग्र्यां सत्त्वामेवायमात्मा स्वस्वमानमुपलभ्यते तर्हि मतानि हिताविरत्या-  
दीनि आद्यो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निःफलत्वं स्यादभिप्रे-  
तायाः स्वात्मोपलब्धेः । सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः । अत्राचार्यो निवेच-  
माह—तत्रेति । यत्तु यत्तु यत्तु मतादीनामानर्थक्यं तत्र भवति ।  
तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपाजिताशुभकर्मैकदेशक्षणेन च संपन्नत्वाच्च-  
परागलक्षणशुभापयोगजनितगुणस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च  
व्यतीकृतं भवति;—

१ मेवमप्येन । २ कस्यां सामग्र्या विद्यमानया । ३ प्राशस्त्यकार्योपपत्त्यं ।  
४ कालितायाः ।

वरं व्रतैः पदं देवं नाव्रतैर्वत नारकं ।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

वरं भवतु । किं तत्पदं स्यात् । किं विशिष्टं, देवं देवानामिदं देवं स्वर्गः-  
कैर्हेतुभिर्व्रतैर्व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाम्बुदयनिर्बधत्वेन  
सकलजनसुप्रसिद्धत्वात् तर्ह्यव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यतीत्याशङ्क्याह ।  
नेत्यादि । न वरं भवति । किं तत्पदं । किं विशिष्टं, नारकं नरकसंज्ञं । कैः-  
अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनितपातकैः षतेति सेदे कष्टे वा । तर्हि व्रताव्रत-  
निमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यतीत्याशङ्कायां तयोर्महदंतर-  
मिति दृष्टान्तेन प्रकटयन्नाह । छायेत्यादि । भवति । कोऽसौ, भेदः अंतरं । किं-  
विशिष्टो, महान् बृहत् । कयोः, पक्षिकयोः । किं कुर्वतोः, स्वकार्यवशाभ्रगरीत-  
र्गत तृतीयं स्वसार्यिकमागच्छंतं पक्षिं प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः । किं  
विशिष्टयोः सतोः, छायातपस्थयो छाया च आतपश्च छायातपो तयोः  
स्थितयोः । अयमर्थो यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकाल यावत्सुप्तेन तिष्ठति  
आतपस्थितश्च दुःसेन तिष्ठति तथा व्रतादिकृतानि स आत्मा जीवः सुद्रव्या-  
दयो मुक्तिहेतवो यावत्संप्रपद्यते तावत्स्वर्गादिपदेषु सुप्तेन तिष्ठति अन्यथा  
नरकादिपदेषु दुःसेनेति । अयं विवेकः पुनराशङ्कते । एवमात्मनि मक्ति-  
रयुक्ता स्यादिति मगवन्नैवं चिरमाविमोक्षमुसस्य मतसाध्ये संसारसुखे  
सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे मक्तिर्भावविशुद्ध आंतरोऽनुरागो अपुक्ता अनुप-  
पन्ना स्याद्भवेत् तत्साध्यस्य मोक्षमुसस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्ति  
त्वाद्वांतरमाप्त्यस्य च स्वर्गादिमुसस्य व्रतैकसाध्यत्वात् । अत्राप्याचार्यः  
समाधत्ते । तदपि नेति न केवलं व्रतादिनामानर्पणं न भवेत् किं तर्हि  
तदप्यात्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थः ।  
यतः—







शब्दः । उद्देश्यंति उद्देशं कुर्वन्ति न सुखयन्ति चे ते, एते सुखजनकत्वेन लोके प्रतीता भोगाः स्वर्णीयस्वर्णीयप्रभृता इन्द्रियार्था । क इव, रोगा इव अत्रादिष्वप्यस्यो यथा । कस्यां सत्यामासि दुर्निवारैरिष्टमृतिर्लपदित-  
दीर्घनन्दलक्षणयो विपदि । तथाचोक्तम्—

“ मुञ्चामीं हलपयान्यलं क्षिप्य द्रुतोऽप्यशाय विदुर्भात्यंशो  
दुरे धेदि नं हृष्य एष किममूरन्या न वेत्ति हणम् ।  
इदं चैति निगदति गामिति तयोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिप-  
स्याभ्येयममुञ्चागरामलालितालार्पयिषित्स्व रतिम् ॥ ”

अपि च—

“ रम्यं रम्यं चन्दनं चन्दपादा  
घण्टर्षाणा यौवनरथा युषत्यः ।  
मैत रम्या धुत्विपास्ताहितानां  
सर्वारम्भास्तं बुलाभस्थभूलाः ॥ ”

तथा । अतये धृतिमता सह कृष्णा यामिनीविरहिणा विहगेन सेहिरि न  
किरणा रिमरक्षमेतुःसिते मनसि सर्वमसहमित्यादि । अतो ज्ञायते  
ऐन्द्रियकं सुरां वासनामात्रमेव नात्मनः स्वामाविद्यानाकुलत्वस्वभाव ।  
कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतामामपि भावानां दुःसहेतुत्वं ।  
एवं दुःसमपि । अत्राह पुनः शिष्यः—एते सुखदुःखे सह वासनामात्रे कथं  
न लक्ष्येते इति । सत्यिति वाक्यालङ्कारे निधये वा । कथं केन प्रकारेण न  
लक्ष्येते न संवेयेते लोकेरिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ।

अत्राचार्यः प्रबोधयति;—

भोदेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि ।  
मत्तः पुमान्यदार्थानां यथा मदनकांद्वयैः ॥ ७ ॥







येषां तानि । किं किमित्याह । वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादित्वभावं प्रसिद्ध-  
मस्ति । एवं गृहं धने दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः  
शत्रवो मित्राः । अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः । अत्रेतेषु वपुरादिषु मध्ये  
हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त  
उदाहरणं प्रदर्श्यते । अस्माभिरिति शेषः ।

तपसा;—

दिग्देशेभ्यः स्वगा एव संयसंति नगे नगे ।

स्वस्यकार्यवशादाप्तिं देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

संयसंति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति । के ते, स्वगा पक्षिणः ।  
क क, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । किं कृत्वा, एतय आगत्य । केभ्यो, दिग्देशेभ्य दिशः  
पूर्वादयो दिश देशस्तस्यैकदेशो अंगवंगादयस्तेभ्योऽवधि कृतेभ्यः तथा याति  
गच्छन्ति । के ते स्वगाः । कामु, दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमन-  
नियमनिवृत्त्यर्थस्तेन यो यस्यामेव दिशि गच्छति यच्च यस्माद्देशादायातः  
स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि, यत्र कापि यथेच्छं  
गच्छतीत्यर्थः । कस्मात्, स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकारणीयपारतंत्र्यात् ।  
कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादि-  
गतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठति तथा निजनिज-  
पारतंत्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गच्छन्तीति प्रतीतिः ।  
कथं भद्रं तव दारादिषु हितवृद्ध्या गृहीतेषु सर्वयान्यस्वभावेषु आत्मा-  
स्मीदमावः । यदि सत्त्वेतदात्मकाः स्युः तदा त्वयि तदवस्थ एव कथमव-  
स्थान्तरं गच्छेयुः यदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं । क प्रयोगमन्तरेणैव  
यत्र कापि प्रयातीति मोहमहावेशमपसार्य यथावत्प्रत्येति दाह्यति दर्शनीयं ।  
अहितवर्गेष्वपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते अस्माभिरिति योज्यम्,—

विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति ।

व्यंगुलं पातयन्पञ्चार्थं स्वयं वन्देन पातयते ॥ १० ॥

कथमित्युच्यते न अद्वये कथं परिकुप्यति समतात् कुप्यति । कोऽसौ, वि-  
राधकः अपकारकर्ता जनः । कस्मै, इति जनाय प्रथमाकारकाय लोकाय ।

“सुखं वा यदि वा दुःखं येन यन्न कृतं भुवि ।

अयाप्नोति स तत्तस्मादेव मार्गः सुनिश्चितः ॥”

इत्यभिधानादन्योऽप्यमेतदिति मारः । अत्र दृष्टान्तमाचष्टे । अंगुलमित्यादि  
पात्यते भूमौ क्षिप्यते । कोऽसौ, यः काञ्चिदसमीक्ष्यकारी जनः । केन, ददेन  
हस्तधार्यकाष्ठेन कथं स्वयं पात्य प्रेरणमन्तरेणैव । किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति  
नामयन् । किं तत्, त्र्यंगुलं अंगुलित्रयाकारं कचारायाकर्षणावयवं ।  
काभ्यां, पद्भ्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते च प्रीतिः स्वहितेतिगा  
प्रेक्षावता न करणीया ।

अत्र विषयः पृच्छति । हिताहितयोः रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते  
इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वन् पुरुषः किमात्मनोहितं कार्यं  
करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समावर्ते,—

रागद्वेषद्वयीर्दीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराद्वधौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

भ्रमति संसरति । कोऽसौ, असौ जीवधेतनः । क, संसाराव्यो  
संसारः द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो मयोऽद्विधः समुद्र इव दुःसहेतुत्वाद्दुःस्तरत्वाच्च  
तामिन् । कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात् । कियत्कालं, सुचिरं  
अतिदीर्घकालं । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽ  
प्रीतिसतोर्द्विधा । रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिशायनार्थं  
द्वयीग्रहणं, शेषद्वेषाणाम् च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं । तथा श्रीकम्—

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।

उभावेतौ समालोक्य विक्रमत्याधिकं मनः ॥”

अपि च । अत्मनि सति परांता इन्द्रादिभ्याम् परिशुद्धोऽनयोः  
संमतिवद्वा सर्वे होषाश्च जायते । सा दीर्घनेत्रमायतमं धातुं गच्छादा  
इव भ्रमणेन शक्त्यापवर्णकर्मजीवाय शगादिरूपतया परिणमनं  
नेत्रापावर्णकं वा मिमृशानयनं तेन गोपमानभूतो मध्यदन्त आक्षेप्यतेन  
यथा नेत्रपवर्णकध्याया मन्वाचरः समुदे स्तुतिं भोक्तो लोके प्रसिद्ध-  
स्तथा स्ववर्णितानयनशोभाय । यदुद्भूतेन शगादिपरिणामेन कारण-  
कार्येव सारात्तज्जनिनकमवधन संसारस्था जीवो अनादिकात् संसारे  
भोक्तो भ्रमनि भ्रमिष्यति । भ्रमरी पवतिष्ठति पर्वता इत्यादिव न नित्यवृत्ते  
लटो विधानम् ।  
उक्तं च ।

“ जो राष्ट्र संसारयो जीवो ततो दु होदि परिणामो ।  
परिणामादो कर्म कर्मादो हवदि गदि लुगदी ॥ १ ॥

गदिमधिगदाम देतो देतादा इ-द्वियाजि जायति ।  
तेदि दु मिसयगाएण तना रामो व होतो वा ॥ २ ॥

गायदि जीवमेवं मावो संसारवद्वालेमि ।  
इदि निजवन्ति मणिअं अणाइणिहसणि एणो वा । ” ॥ ३ ॥

अथ प्रतिपादः पर्यनुयुक्ते । तस्मिन्सति यदि सुखी स्यात् को दोष इति  
यत् संसारं न केवलं मोक्ष इत्यपि शङ्कार्थं । चेद्वर्तीकः सुखयुक्तो

न तर्हि को न कश्चिद् दोषो दुष्टः संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैव आमु-  
त्वात् येन समारब्धेनाय संतो यनेरात्रित्यब्राह्म । वत्स ।

विपद्पदपादयंतं पदिकं पातिवाह्यते ।  
पायत्तायज्ञवत्यन्याः प्रचुरा विपद्ः पुरः ॥ १२ ॥

वदतिवाहने अतिक्रम्यते । प्रेक्षते । कासौ, विपत् सहजशरीरमानसा-  
नमाना २ विधाः पृथगिति ।

३



गंतुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत् । जीवेनेति शेषः । कः भवपदावर्तं भवः संसारः पदावर्त इव पादत्वात्पद्यटीयंमिव भूयोभूयो परिवर्तमानत्वात् । केव, पदिकेव पादाकांतदंष्ट्रिका यथा तावद्भवन्ति । का, अन्या अपूर्वा प्रचुरा बहो विपदः आपदः पुरो अग्रे जीवस्य यदि । का इव, का-च्छिकस्येति सामर्थ्यादुर्व्या । अतो जानीहि दुःसैकनिबन्धनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसार अवश्यविनाश्यत्वम् ।

पुनः शिष्य एवाह । न सर्वे विपदन्त संपदोपि दृश्यंत इति भगवत् समस्ता अपि संसाग्णो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषां चित् दृश्यमानत्वादित्यत्राह,—

दुर्जर्येनासुरक्षेण नन्वरेण धनादिना ।

स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

भवति । कोसौ, जनो लोकः । किंविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः । किंविशिष्टो भवति, स्वस्थमन्य स्वस्थमात्मान मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः । केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यार्द्राएवस्तुजातेन । किं-विशिष्टेन, दुर्जनेन अपायबहुलत्वाद् दुःखानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेना-र्जित इति दुर्जनेन तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्नतो रक्षमाणस्याप्यपय-स्यावश्यमभिविन्वान् । तथा नन्वरेण रक्षमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्व-तन । अत्र दृष्टानमाह । ज्वर-यदि । इव ज्वरः । यथार्थं यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वरार्तं मांसं पतन पानाद्युप-युक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति । निरामयमात्मानं मन्यत ततो बुद्धयश्च दुस्त्राज्येदुरक्षणभेगुरद्रव्यादिना दुःसमेव स्यात् ।

उक्तं च—

“अर्थमधोपाज्जेने दुःसमर्जितम्य च रक्षणे ।

आये दुःख व्यये दुःखं विनश्ये दुःसमाजनम् ॥”

## इष्टोपदेशः ।

‘मुषोवि विनेयः पृच्छति ।’ एवंविधो संपदा कथं न त्यजतीति  
दुरर्ज्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि कुतश्च धनादिसंपत्तिं कथं  
मुच्यते जनः । कथामेति विमयागर्भे मन्त्रे । अत्र गुरुकृतमहः—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिह नैक्षते ।  
दृष्टमानमृगाकीर्णयनातिरक्तकस्थयन् ॥ १४ ॥

नेक्षते न पश्यति । कोऽसौ, मूढो धनायामकृष्या लुप्तविवेको लोकः । को,  
विपत्तिं बोधादिना विद्यमाना धनापहारायापदा । कस्य, आत्मन स्वस्य ।  
इयामिह, परेषामिह यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्यःकतव्य इति  
न विवेचयतीत्यर्थः । क इव, प्रदृष्टमानः वायानतज्वालादिभिर्भस्मीकिय-  
माणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुटस्य वनस्पातरे मध्ये वर्तमानं । स  
तर्ह्यमृगमारुढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति ।

पुनराह निरप्य कुत एतदिति, मगवन् कस्माद्धेतोर्वि सन्निहिताया  
अपि विपदो अदर्शनं जनस्य । गुरुराह । लोभादिति, वत्स धनादिगार्घ्या-  
त्युरोवर्तिनीमप्यापदं धनिनो न पश्यति । यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं ।  
वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीयितात्सुतरां धनं ॥ १५ ॥

वर्तते । किं तद्धनं । किंविशिष्टं, इष्टमभिमत । कथं, सुतरां अतिशयेन  
करमर्ज्जविनाश्याग्नेभ्यः । केपां, धनिनां । किं कुर्वतां, वाञ्छतां । कं, निर्गमं  
अतिशयेन गमनं । कस्य, कालस्य । किंविशिष्टं, आयुर्वृद्ध्यादि । आयुः  
क्षयस्य वृद्धशुल्कस्य च कालान्तवर्द्धनस्य कारणम्, अयमर्था, धनिनां तथा  
जीवितार्थं नैष्टं यथा धनं । कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं  
कालनिर्गमं वाञ्छन्ति । अनो धिग्धनम् ’एवविधव्यामोहहेतुत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । कथं धनं निर्धयेन पुण्यमुराज्यते इति पात्रदानदे-  
१ अमनः स्थितामपि ।



आरंभे तापकान्यातायवृत्तिप्रतिपादकान् ।

अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः श्रेयते सुधीः ॥ १७ ॥

को, न कश्चित् सुधीर्विद्वान् श्रेयते इन्द्रियप्रणालिक्रियानुभवति । कान्, भोगोपभोगान् ।

उक्तं च—

“ तदाचक्षुःसुखसंज्ञेषु भावेऽप्यसौऽनुरज्यते ।

हितमेवानुरज्यते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः । ”

कथंभूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमन क्लेशहेतून् । च, आरंभे उत्पद्युप-  
जमे । अस्मादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुतया सर्वजन-  
सुप्रसिद्धत्वात् । तर्हि भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः समुत्तिष्ठेय्यास्ते  
इत्याह, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तो इन्द्रियेण संबन्धे सति अतृप्तेः सुतृप्ण्याया प्रति-  
पादकान् दायकान् । उक्तं च—

“ अपि संकल्पिताः कामाः संभवति यथा यथा ।

तथा तथा मनुष्याणां तृप्णा विश्वं विसर्पति ॥ ”

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृप्णासंतापः शान्त्यतीति श्रेय्यास्ते  
इत्याह । अत्र सुदुस्त्यजान् भुत्तिप्रति स्वनुमदायकान् । सुभुक्तेष्वपि तेषु  
मनोऽप्यतिदंशस्य कुर्निवारत्वात् । उक्तं च—

“ दहनस्तृणकाष्ठसंघट्टैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।

मनु कामगुहैः पुमानहो बलवत्ता सनु कावि कर्मणः ॥

अपि च—किमपीदं विषयमर्थं विषयनिविषयं पुमानर्थं येन ।

प्रसर्पमनुभूय मनो भवे भवे नैव चेतयने ॥ ”

मनु तत्त्वविशेषे भोगान्मुत्तवंतो न श्रूयन् इति कामान् कः श्रेयते

शुचीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह । काममिति । अत्यर्थं । इदमत्र तात्पर्यं चारित्र्यमोहोदयात् भोगान् स्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञा हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवतं भेदीमवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनाया करणमार्गं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव । तथाचोक्तम्—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेव क्रमो व्ययोयमनुपगमं फलमिदं दशोपमम । अयं सुदृढयं द्विपत् प्रयतिदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयत्नते बुधो नेतरः ।

किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति । भद्रं यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाशुपेतं कर्तुं कामस्त्वया प्रार्थ्यते तद्दृश्यमाणलक्षणमित्यर्थः । स एवंविध इति पाठः ।

तद्यथा—

भयंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।

स कायः संतापायस्तदर्थं प्रार्थनां वृथा ॥ १८ ॥

वर्तते । कामो, स कायः शरीरं । किरिशिष्टं, संतापायः नित्यशुभापु-पतापः । स कः, इत्याह । यत्संगमं यत्संगमं यत्संगमं यत्संगमं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्रस्याप्यपि भोजनव्यादिवस्तुन्यशुचीनि भवन्ति यत्तत्रैव तत्तत्तदर्थं संतापायः कायः श्रद्धावन्मिदं कर्तुं प्रार्थना आकाशा सेवादेव वृथा व्यर्थं कृतं यत्तापयन् निवर्त्तते न पि वदन्मिदं कर्तुं कर्तुं परावरापायो-पनिपातयन्वतः ।

पुनरप्याह शिष्यः । नहि चनादनाप्यात्माकारा मरिच्य मिति । भागवत् संतापायतया कायस्य धर्मादना यद्युपकारो न इत्यन्ति । अनादनापि न केवदमनशनादिनष्टावर्णनत्येव शब्दार्थाः । आत्मना नावस्थोपकारोऽमुदशो मरिच्यमिति । मुदशः तत्रेति । यत्तथा अनादना आत्मोपकार-मयं संमार्थ्यं तत्रेति । यत्—

यत्तदवस्थोपकाराय तद्देहव्योपकारकं ।

यद्देहव्योपकाराय तत्तदवस्थोपकारकं ॥ १९ ॥

यश्चनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षयणनिवारणाभ्यामु-  
पकाराय स्यात्तदेहस्यापकारकं गृहान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिक  
देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधापूरतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्यो-  
पार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गति-दुःखनिमित्तत्वादुपकारकं स्यादतो जानीहि  
जीवस्य धनादिना नोपकाराद्योप्यस्ति धर्मस्यैव तदुपकारत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चित्यते इति भगवन् यदेवं तर्हि  
“ हारीरमाणं सतृ धर्ममाधनम् ” इत्यभिधानात्तस्याप्यनिरासाय यत्नः  
क्रियते न च कायस्थापायनिरासो दुःख इति वाच्यम् । ध्यानेन  
तस्यापि मुक्तत्वम् । तस्माच्चोक्तम्—

“ यदा त्रिकं फले द्विविक्तमामुत्रिकं च यत् ।

एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवामकारणम् ॥ ”

ज्ञानस्य वा दुःखं किपीति च—अत्र मुक्तशतिपेक्षमाह तत्रेति । ध्यानेन  
कायस्योपकारो न चित्य इत्यर्थः ।

इतश्चिन्तामणिर्द्विच इत पिण्याकल्लवकं ।

ध्यानेन चन्द्रमे लभ्ये क्वादिद्यंती विवेकिनः ॥ २० ॥

अस्ति । कोऽसौ, चिन्तामणिः चित्तितायेदो रत्नविशेषः । द्विविदिष्टो,  
द्विचो देवेन चिष्टित । क, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे इतध्यानस्मिन् पक्षे  
पिण्याकल्लवकं कुन्तितमर्त्यं वा सल्लवकमस्ति एते च उभे द्वे अपि  
यदि ध्यानेन लभ्येते अवश्यं लभ्येते तर्हि कथय क द्वयोर्मध्ये कतर-  
स्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारवतुरा आदिद्यंती आदौ  
कुर्वन्तु । तदैहिकफलानिष्टार्थं त्यक्त्वा आमुक्चिफलसिद्धयर्थमेवात्मा  
ध्यातव्याः । उक्तं च—

अज्ञानोपास्तिग्नानं ज्ञानं ज्ञानिममाश्रय ।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

द्वानि । कामो, अज्ञानस्य देहादेर्मूढाभिः मंदिग्धगुणैर्वा उपाभिः  
सेवा । किं अज्ञानं, मंदिग्धमसदेहलक्षणां तथा ददाति । कामो, ज्ञानिनः स्वमा-  
यम्यात्मनो ज्ञानसपन्नगुणैर्वा समाश्रयः । अनन्यतरया सेवनं । किं, ज्ञानं  
स्वार्थविबोधे । उक्तं च,—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनन्धरम् ।

अशं मंदिग्ध माहात्म्यमन्यद्व्यत्र मृगयते ॥

को अत्र दृष्टांत इत्याह यदित्यादि ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुल्यधारणे  
तेनायमर्थः संप्रयते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमान तदेव  
ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्रं ज्ञानिनमुशस्य समुत्तुम्भितस्वर-  
विवेकज्योतिरजग्नमात्मानमत्मानामात्मनि सेव्यम् । अत्राप्याह शिष्यः ।  
ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यान-  
फलप्रश्रयोम् । गुरुवाह,—

परीपहायविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।

जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

जायते भवति । कामा, निर्जरा एकदेशेन सक्षयो बिस्त्रेष्ट इत्यर्थः । केषां,  
कर्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुमाना च शुमाना साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्देहा-  
दीनां । कथमाशु सद्यः । केन, अत्यात्मयोगेन आत्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं  
केवला, नेत्याह निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामि-  
त्यत्रापि योज्यं । कुत इत्याह, परीपहाणां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दा  
देवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादसवेदनात् । तथा चोक्तम्—

“ यस्य पुण्यं च पापं च निःफलं गलति स्वयम् ।

स योगी तस्य निर्वर्णं न तस्य पुनरास्रवः ” ॥ १ ॥

तदा च—

“ तदा ह्यधरमोक्तय ध्यानमध्यम्यन. सादा ।

निर्जरा सवाध्यास्य सबलानुभक्त्येता ” ॥ २ ॥

अपि च—

“ आत्मदेशानुज्ञानप्रतिपत्त्यानिर्जित ।

तस्या बुद्ध्या चोर् भुजानोऽपि न सिध्यते ” ॥ ३ ॥

एतच्च स्यरहानयादुच्यते । बुत इत्यादांकायां पुनराचार्य एवाह सा।  
सदु कर्मणा भवति तस्य संबन्धः । कथमिति । वस्तु आकर्ण्य  
सदु यस्यात्सा एकदेशेन विश्लेषणतया निर्जरा कर्मणः चित्तामन्यानु-  
विधायिबुद्धपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संबन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव  
संयोगपूर्वविभागसमवायः तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूप-  
मात्रावस्थानकाले संबध प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं केन संयोगाद्विप्रका-  
रेण संभवति सुश्लेशिकया समीक्ष्यम् न कथमपि सम्भवतीत्यर्थः । यद्वा  
सत्त्वात्मैव ध्यान ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्त्य  
स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कथं द्रव्यातिरेण संबन्धः स्यात्तस्य द्विष्टत्वात् । न  
चेतस्मसाणि न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्प-  
च ह्रस्वस्वरौघागणकालं यावन्तयावस्थानसंभवात् कर्मक्षयणाभिप्रायस्य  
लक्षणोत्पुष्टशुद्धलेइवासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्मपारतंत्र्यवहरणात् ।  
तदा चोक्तः परमागमे—

“ सान्नेसि संपन्नो गिरुद्धगिम्सोऽभासवो जीवो ।

कम्परयविष्यमुक्तो गयजोगो केवली होदि ॥”

श्रूयतां चात्रैवार्थस्य समहन्तेऽहः ।

कटस्य कर्त्ताहमिति सर्वन्धः स्याद् द्वयान्वयोः ।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सर्वन्धः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥



स्याद् भवेत् । कोमौ, संबंधः द्रव्यादिना श्रयामनिः । कयोर्द्वयोः कथंचिद-  
मिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रतिष्ठेन प्रक्षोण कथमिति यथा-  
मस्मि । कीदृशः, कर्त्ता निर्माता । कस्य, कस्य वंशदलानां जन्मादिप्रति-  
धायकस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्विष्टनां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यातिरेकमाह ।  
ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्मद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति  
करण कर्त्ता वा । उक्तं च,—

“ ध्यायन्ते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा । ”

ध्यायत इति ध्येयं चाध्याति क्रिययाध्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः  
परमात्मना सहेकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः  
संयोगादिप्रकार संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेध्यात्म-  
योगेन कर्मणामाशु निर्जरेति परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तर्हि  
कथं वंशस्तत्प्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यथात्मकर्मद्रव्ययोरध्यात्मयोगेन  
विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोर्वंशः परस्परप्रवेशानुप्रवेश-  
लक्षणः संश्लेषः स्यात् । तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो वंश-  
विरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानंतरमुक्त-  
हेतुत्वेन योगिमिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

धध्यते मुच्यते जायः सममो निर्ममः क्रमात् ।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निममत्वं धिंचिंतयेत् ॥ २६ ॥

ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो  
ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविपुश्चोपलक्षणत्वात् जीवः  
कर्मभिर्वध्यते । तथा चोक्तम्—

“ न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मक कर्म वा ।

न चापि करणानि वा न चिदाचिद्वधो बंधकृत् ॥ ”

यदैक्यमुपयोगभूतमुपरो अतिरागादिभिः स एव किञ्च केवलं भवति

बन्धहेतुर्तृणा । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तेर्मुन्यत इति यथा-  
संख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च—

“ अकिञ्चनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे ।  
योगिमग्न्य तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ ”

अथवा “ रागी वप्राति कर्माणि धीतरागी विमुञ्चति ।  
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥ ”

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाङ्मायप्रणिधानेन वा  
निर्ममत्वं विचिन्तयेत् मत्तः कायाद्योऽभिघ्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः नाहमेपां  
किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुविशेषेण  
भावयेत् । उक्तं च—

“ निर्वृतिं भावयेत्वावन्निर्वृतिं तदभावतः ।  
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमप्यय ॥ ”

अथाह शिष्यः । कथं नु तदिति निर्ममत्वविचितनोपायप्रश्नोऽयं अथ  
गुरुस्तत्तत्क्रियां मम विज्ञस्य कः स्पृहेति यावदुपदिशति—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।

बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमदेत्य-  
भिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनशादेशाद्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपर-  
प्रकाशनस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनंतपर्यायविशिष्टतया बेकलिना शुद्धोप-  
योगमात्रमपत्वेन श्रुतकैवलिना च सर्वोपाहमात्मास्मि ये तु संयोगाद्रव्य-  
कर्मसंबन्धापाता मया सह संबंधे प्राप्ता भावा देशाद्योस्ते सर्वेऽपि मत्तो  
मत्सकाशास्तर्था सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः सेति पुनर्भाषक

१ साक्ष्येन । २ वाह्यात् व्यापुट्य । ३ निर्ममात्मधर्मः । ४ प्रयत्नम-  
देहगता ।

एव विमृशति सयोगाहिकमिति देहादिभिः सर्वपादेदिनां किं कर्त्तव्यं स्यादित्यर्थः । तत्र स्वयमेव समाधत्ते;—

दुःखमर्वाहमागित्यं संयोगादित् देहिनाम् ।

त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

दुःखानां संश्लेषः समुद्भवद्वागित्यं देहिनामिह संयोगं संयोगादेवादि-  
संघादादेत् । यत्तु भवेत् तत एव संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । केः त्रिय-  
माणं, मनोवाकायकर्मभिर्मनोवर्गणायात्स्वनैरात्मप्रदेशपरिस्पर्शैरेव त्य-  
जामि । अयमभिप्रायो मनोवाकायान्प्रतिशब्धिर्मानानात्मप्रदेशान् मा-  
वतो निरुद्धामि । तद्देशभेदाभ्यासमूलत्वात्पुनरुद्भवेककलनिर्वृतिर्निसृत्यो-  
त्तया चोक्तः—

“स्वबुद्ध्या यन्तु गुह्यायात्कायवाक्येनसां त्रयं ।

संसाग्न्यावदेनेषां तदाभ्यासेन निर्वृतिः ॥”

पुनः स एव विमृशति पुद्गलेन किल सयोगस्तदपेक्षामरणादयस्तद्व्य-  
वस्थाः कथं परिदिष्यत इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल  
आगमे भूयमाणो जीवस्य सवन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गलसंयोगनिमित्त  
जीवस्य मरणादयो मृत्युयोगादयः संभवन्ति । तद्यथा मरणादयः संभवन्ति  
मरणादिसंबन्धिभ्यो बाधा । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परि-  
ह्रियन्ते । तदभिभवैः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते,—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।

माहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

न मे एकोऽहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो  
नास्ति । चिच्छक्तिलक्षणभावमाणानां कदाचिदपि त्यागाभावात् यतश्च मे  
मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादिभीतिर्भयं मम

स्यान्न कृतमिदं विभेदात्यर्थः । तथा व्याधिर्वातादिशेषेष्वप्यत्र मम  
नास्ति मूर्च्छासंघित्वाद्वातादीनां । यतश्चेदं ततः कस्मात् ज्वरादि विकार-  
ान् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि ततः कथं बालाद्य-  
वस्थाप्रभवः दुःस्वप्नभूयेयं अहमिति सामर्थ्यादत्र द्रष्टव्यं । तर्हि क  
मृत्युप्रभूतानि स्युर्गत्याह—एतानि मृत्युप्याधिवालादीनि पुद्गले मूर्ते  
देहादेवेव संभवन्ति । मूर्तिधर्मत्वादमूर्ते मयि तेषां नितरामसंभ-  
वात् । भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशङ्कते तर्लतान्यासाय मुक्तानि  
पञ्चानापकारिणि भविष्यतीति यत्कनीत्या भयादयो मे न भवेयस्तर्हि एतानि  
देहादिवस्तुन्यासाय जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानीं भेद-  
भावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि । चिराम्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पञ्चानाप-  
कारिणि किमिनीमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयश्चर्याणि मम भविष्यन्ति ।  
अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुष्यायति<sup>१</sup> तस्मेति यतः—

भुक्तोज्जिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।

उच्छिष्टेष्विव तेष्वप्यत्र मम विशस्य का सृष्टा ॥ ३० ॥

मोहाद्विद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गलाः मया  
संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वमनुभूताः पञ्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता यतश्चेदं  
तत उच्छिष्टेष्विव भोजनगंधमात्स्यादिषु स्वयं मुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा  
मे संप्रति विशस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुद्गलेषु का सृष्टा ?  
न कदाचिदपि । बरस ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतयित्वं । अत्राह  
शिष्यः । अथ कथं ते निवर्ष्यते इति । अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला  
जीवेन निर्यतमुपादयिते इत्यर्थः । गुरुराह—

कर्म कर्महितावन्धि जीवो जीयदितस्पृहः ।

स्वस्यप्रमायभूयस्तेव स्वार्थं को या न वांछति ॥ ३१ ॥

१ दुःखितो भवामि । २ करोति । ३ उच्छिष्टः । ४ निवर्षित । ५ बहुतस्ते ।

“कथयि बलिओ जीवो कथयि कम्माइ हुंति बलिया  
जीवस्स य कम्मस्स य पुब्बविरुद्धाइ वइराइ ॥” इत्यभिधानात्पूर्वे  
पार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमावधाति जीवस्यौदयिकादिमा  
मुद्भाव्य नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्पातीत्यर्थः । तथाचोक्तं—

“जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनान्ये ।  
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पट्टला कर्मभावेन ॥ १ ॥  
परिणममानस्य चिदभिदात्मकैः स्वयमपि मरुकेर्भावे ।  
भवति हि निमित्तमात्रं पाद्मलिक कर्म तस्यापि ॥ २ ॥

तथा जीवः कालादिलक्ष्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनेन  
सुरहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाप्नोति । अत्र दृष्टान्तमाह-स्वमेवेत्यादि  
निजनिजमाहात्म्यवद्वृत्तत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को न धाउति  
सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थः । ततो सिद्धे कर्माविशे जीवः कर्ममंचिनोतीति ।  
यत्थेन ततः—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्योपकारपरो भव ।  
उपकुर्यन्परस्याशो हृदयमानस्य शोकयन् ॥ ३२ ॥

परास्य कर्मणो देहादेर्वा अपिघावशात् कियमाणमुपकारं त्रियाभ्यासेन  
त्यात्मात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वं । चिंकुर्यन्मन्, उपहृर्यन् । कस्य, परस्य  
सर्वथा स्वमाद्वात्म्यं हृदयमानस्येन्द्रियैः अनुभवमानस्य देहादेः । चिंविशिष्टो  
यवज्ज्वं अज्ञानस्त्वानभिज्ञः चिंवहोहृयन् । यथा लोकः परं परतेनाजानं-  
स्वस्योपकुर्यन्मन्ति तं तन्नेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यज्वा स्योपकारपरो भवत्येव  
त्वमपि भोग्यर्थः । अग्राह शिष्यः । कथं तपोविशिष्ट इति केनापायेन  
स्वात्मसंनितो रिज्ञाये । तद्वि ज्ञानुभ चिं म्मादि धर्मः । गुणान्-

गुणपदेशादस्यान्तर्मंचितं स्वपरांतरं ।

जानानि यः न जानाति मोक्षार्थादर्थं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

यो जानाति । किं तत्स्वर्गांतरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परमाद्रिभं  
पश्यतीत्यर्थः । कुतः संविनेर्लक्ष्मणतः स्वलक्ष्मणभवात् । एषोपि कुतः, अभ्यासात्  
अभ्यासमावनातः । एषोऽपि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुहृद-  
स्वपरविशेषज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्योपदेशात्मात्मनुमविता मोक्षसौख्यं  
निरंतरमाविष्ठिभ्रमनुभवानि । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तरय । तथा  
चोक्तं तच्चानुशासने,—

“ तमेवानुभवंध्यायमेकाग्रं परमृच्छति ।

तथात्माधीनमानंदमतिवाचाप्रगोचरम् ॥ इत्यादि ॥ ”

अथ शिष्यः पृच्छति—कस्तत्र गुरुगिति तत्र मोक्षमुखानुभवविषये ।  
गुरुराह,—

स्वस्मिन्सदभिलाषित्यादृभोष्टृष्ठापकत्वतः ।

स्वयं हितप्रयोक्नुत्वादात्मैव गुरुरात्मन ॥ ३४ ॥

यः सल्लु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य  
तदुपायं तं ज्ञापयति तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः ।  
एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात् । कुत इत्याह—स्वयमात्मना  
स्वस्मिन्मोक्षसुखाभिलाषित्यात्मानि सत् प्रशस्तं मोक्षमुखमभीक्ष्णमभिलषति ।  
मोक्षमुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षतीत्येवं भूमात् । तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञा-  
स्यमानस्य मोक्षमुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वाद्देव मोक्षमुखोपायो मया  
सेव्य इति बोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षमुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तु-  
त्वात् । अस्मिन्सदुर्लभे मोक्षमुखोपाये दुरात्मस्मात्प्रत्ययमद्यापि न प्रवृत्तः  
इति । तत्राप्रवर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अथ शिष्यः साक्षेमाह । एवं  
नान्योरास्तिः प्राप्नोतीति भगवच्छ्रुत्वा कनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चितं सति

धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं । मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धातप्रसंगादिति वदन्तं प्रत्याह;—

नाज्ञो विज्ञत्यमायाति विज्ञो नाज्ञत्यमृच्छति ।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽमध्यादिर्विज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

“स्वभाविकं हि निष्पन्नो क्रियागुणमपेक्षते ।

न व्यापारशतेनापि शुक्लवत्याउच्यते वदः ॥”

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो भज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमायसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

“वद्रे पतत्यपि भवद्भूतविश्वतोके

मुक्ताभ्यां न पशमिना न चन्दति योगात् ।

बाधप्रदीपहतमाहमहापङ्कजः

सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीयतेषु ॥”

नन्वेवै बाधनिमित्तज्ञेयः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पुनर्गुणविज्ञादिः प्रवृत्तार्थसमुत्पादभेदयोर्निमित्तमात्र इत्यत्र योऽपनाया एव साक्षात्साधकत्वात् । कस्याः को यदेत्यत्राह गतेरित्यादि । अयमर्थो यथा मुक्तपद्माविगतिपरिणामोन्मुक्तानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षात्त्वनिष्ठा तद्देहस्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायानु गानुवमाहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सत्कारिकारणार्थ इत्यादेवं वदन्तेऽपि अन्यो व्यवहारादेव गुणोदेः शुभ्रत्वा प्रतिपत्तया । अत्राह शिष्यः । अस्याहः कथमिति । अस्यानवयोगोपायप्रभोऽयं । अस्यानः कथयन् इति वक्ति-





अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिको तदभावे तदभावात्  
प्रकृष्यमाणोयां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तथा—

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा तथा समायाति संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानं । तथा चोक्तम्—

“ विग्न किमपरेणाकार्यकोलाहलेन

स्वयमपि निभूतः सन्पश्य षण्मासमेकं ।

इदयस्यसि पुनः पुनराद्भिन्नधाम्नो

ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ॥ ”

प्रकृष्यमाणोयां च स्वात्मसंवित्ती यानि चिद्धानि श्रुस्तान्याकर्णय । यथा—

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।

स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुत्पद्यते ॥ ३९ ॥

योगीत्यतदीपकत्वात्मवैजया ज्ञेय । स्वात्मसंवित्तिरगमिको ध्याता यथा-  
चरं बहिर्निस्तुजातमपश्यत् । शिणीयतया तानोपादानबुद्धिविषयत्वादिन्द्रज-  
ालोपदर्शितसर्वशाखादिपदार्थसार्थसदृशं पश्यति । तथामलामाय स्पृह-  
यति चिदानन्दस्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति । तथा अन्यत्र स्वात्मप्यति-  
रिक्ते यत्र कापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिब्रह्मात्मनोऽशक्तापेक्षया ध्यातुं  
अनुत्पद्यते स्वयमेव आः इय मयेदमनामीनमनुष्ठितमिति पश्चात्तत्प-  
द्वरोति । तथा,—

इच्छत्येकातर्कयामं निर्जनं जनितावरः ।

निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्या विग्नारति द्युतं ॥ ४० ॥

एकति स्वभावतो निर्जने विविक्तनाशो संकलं गुणादिभिः सत्तायादान-

नभिलपति । किं विशिष्टः सन्, जनितादरो जनमनोरजनचमत्कारि मंत्रादि-  
प्रयोगवार्त्तानिर्वृतो कृतप्रयत्नः । कस्मै निर्जनं जनाभावात् स्वार्थगता-  
हाभालाभादि प्रभार्थं लोकमुरसंर्प्यतं निषेधमित्यर्थः । ध्यानादि लोक-  
चमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः । तथा चोक्तं,—

गुरुपदेशमासाद्य समभ्यस्यजनारतं ।  
धारणा सौष्ठवाध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥ ११

तथा स्वस्वावदन्करणीयभोजनादिपारतन्त्र्यात्किञ्चिदल्पमसमर्थं श्राव-  
कादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा  
तत्क्षण एव विस्मरति । भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति  
सति न किमप्युत्तरं ददाति । तथा,—

दुवज्ज्ञापि हि न ब्रूते गच्छत्यपि न गच्छति ।  
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यत्यपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरूपो योगी संस्कारवशात्-  
गोपरोधेन ब्रुवत्यपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति इति-  
शब्दार्थः । न ब्रूते हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्यामावात् । उक्तं च—  
“ आत्मज्ञानत्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं ।  
कुर्यादूर्ध्ववर्त्तकिञ्चिदाकायाभ्यासतत्परः ॥ ”

तथा भोजनार्थं वज्रजपिन वज्रत्यपि । तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोक्य-  
त्यपि नावलोकयत्येव । तुरेवार्थः । तथा—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्केत्यविशेषयन् ।  
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य  
किं कस्मात्कस्य सकाशात् कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्तम्  
न भाष्यन् । १ देहवत् । २ आत्मसरीरो । ३ पृथगेतया ।



सोपदेशः ।

तथा आत्मा आत्मैव इत्याह । तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वानुपादा-  
यतर्ध्वं ततस्तस्मात्सुरां इत्याहुरनिमित्तानां तस्याविषयत्वात् । यतर्ध्वं  
एव महात्मानस्तीर्यकरादयस्तस्मिन्निमित्तमात्मार्थं कृतोपमा विविहितता  
नुष्ठानाभियोगाः संजाताः । अथ परमध्यानुरागो दोषं दर्शयति,—

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत् ।  
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यः पुनरविदात् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनन्दति  
अद्वैते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जंतोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं  
चतुष्टयं नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबन्धं जातु कदाचिदपि  
न त्यजति । अथाह शिष्यः—स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगमं । गुरुवाह—  
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवह्निःस्थितेः ।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारा-  
त्यवृत्तिनिवृत्तिरक्षणवह्निःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातृयोगेन स्वात्मध्या-  
नेन हेतुना कश्चिद् वाचागोचरः परमोऽनन्यसमशी आनन्द उत्पद्यते ।  
सत्कार्यमुच्यते—

आनन्दो निर्दहन्त्युद्धं कर्मधनमनारतं ।

न चासी स्विद्यते योगी बहिरुःखेऽप्यचेतनः ॥ ४८ ॥

स पुनरानन्द उद्धं प्रभूतं कर्मसंततिं निर्दहति । बहिरिधने यथा । किं च  
असावान्दाविष्टो योगी बहिरुःखेऽप्यु परीपहोपसर्गद्वेषेषुमचेतनोसर्वेदनः  
स्यात्तत एव न सिध्यते न संहृंश याति । यामादेवं तस्मात्—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।  
तत्पुद्गलद्रव्यं तद्गुणं तद्गुणं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

१ आत्मनः । २ आत्मा ।

मध्याह्ने तु खितान् दीनान् भोजनादिभिराहारात् ।

अनुपुष्टन्यति. संधपूजनीयो भवेत्सदा ॥ ४१ ॥

घरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दशम् ।

मन्त्रिरे भोजने यद्मात्सर्यमायच्छसेगमः ॥ ४२ ॥

विष्टेन शूद्रमाश्लिष्य यपुर्धर्माद्विशेन्मुनिः ।

छायां तथैव धर्मं य भूमिभेदापि शान्यहम् ॥ ४३ ॥

पुनरोधे पशनां च बन्धनक्षयशोषणं ।

सागसकमाण्यन्यास्मिन् वर्त्तमानं च मन्त्रिरे ॥ ४४ ॥

न विशद्वागतं कर्त्तुं प्रविश्य च तृणणे ।

मुपुनं र्षिषायेद्वातुलं राजाच्छूयानु संमत ॥ ४५ ॥

व्याध्यासं योगिने दीप्य मायकान् कदाचन ।

न्यकाय परकाय च दद्यान्मम तां वि च ॥ ४६ ॥

ज्ञानधारिण्यहोता एव तेन पात्रायनसमाय

ज्ञानधारिण्युक्ताऽपि न मिथ्यायुक्तकाचन । ४७ ॥

सस्मै दानं प्रदातव्यं यः शस्मार्गं प्रवर्त्तते ।

पार्थीकभ्यां बृहदानं वाता मिथ्यात्ववर्त्तकः ॥ ४८ ॥

जीर्णं तिलमुद् विभं पुस्तकं च हृत्पुस्तकम् ।

उद्गायं श्यापुनं पुनःपुनःपुनो ह्यवमुच्यते ॥ ४९ ॥

रागादं स्वयमवर्त्तं मन्त्रादं विगर्भमेकम् ।

न वृत्तं यतिं सागुर्विद्वान्मार्गं नमः ॥ ५० ॥

\* " च पुनःपुनः " इत्यत्र पुनः " तादृशं च " इति " च " पुनःपुनः पुनः

३ " ५० " इत्यत्र " च " इति " च " पुनःपुनः पुनः " इति " च " पुनःपुनः पुनः





यच्छास्त्रं रचितं मूलं तदेवाऽऽदेयमन्यकैः ।  
 विसंघ्यै रचितं नैव प्रमाणं साध्यपि स्फुटम् ॥ ७१ ॥  
 पूर्वाचार्येष्वः भीमत्सर्वज्ञयचनोपमम् ।  
 तज्ज्ञानसनगारोऽत्र पूज्यः स्यादस्तिर्लज्जनेः ॥ ७२ ॥  
 विसंघ्यैः सममध्यात्मप्रायश्चित्तविधिक्रियाः ।  
 सिद्धान्ताचारभावाद्य नाऽऽलोच्या यतिना सदा ॥ ७३ ॥  
 द्रव्यलिङ्गं समाख्याय भावलिङ्गा भवेद्यतिः ।  
 यिना तेन न पूज्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥ ७४ ॥  
 अचेलत्वं शिरः कूर्चलोचोऽधः केशधारणम् ।  
 निराभरणताऽष्टिघ्नदहता पिच्छधारणम् ॥ ७५ ॥  
 द्रव्यलिङ्गमदो क्षेयं भावलिङ्गस्य कारणम् ।  
 तदध्यात्मकृतं स्पर्शं न नेत्रविषयं यतः ॥ ७६ ॥  
 मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते ।  
 राजमुद्राधरात्पतन्हीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ ७७ ॥  
 स्यावरं देहभेदेन व्रतभेदेन लिङ्गिनम् ।  
 उभयोर्भिन्नलिङ्गत्वाच्चार्चयेन्नाभिवन्दयेत् ॥ ७८ ॥  
 येन येन हि कृत्येन धर्मवृद्धिः प्रजायते ।  
 तत्तत्कुर्वन्मुनिर्मान्यो भवेद्वा न संशयः ॥ ७९ ॥  
 आगते स्थागते कुर्याद्विच्छन्तं न निवारयेत् ।  
 तिष्ठन्तं कारयेद्भिक्षामेव धर्मः सनातनः ॥ ८० ॥  
 पिच्छपुस्तकपट्टादीन् याचयित्वा परस्परम् ।  
 ग्रहणं न यिना याञ्जामेव धर्मः सनातनः ॥ ८१ ॥

१ "प्रतभयेनेति" "क" पुस्तके पाठः । २ आभयेदिति "क" पुस्तके पाठः ।



गुरुन्बिलोक्य सहसा समुत्थानं तथा नतिः ।  
 अनुकूलप्रवृत्तिश्च सर्वधर्मशिरोमणिः ॥ ८२ ॥  
 गुरुणा दीयमानानि वस्तूनि बहुमावतः ।  
 पाणिद्वयेन संगृह्य पुनरप्यभिवन्दयेत् ॥ ८३ ॥  
 दीक्षादाताऽध्यापयितां कृताचार्यादिवाचनः ।  
 द्रोणच्छेदी कृतांतार्यां गुरुरित्यभिधीयते ॥ ८४ ॥  
 यो यो गुणाधिको मूलगणमच्छाद्यलंकृतः ।  
 स सर्वोऽप्युच्यते जैनैर्गुरुरित्युज्जितस्मर्यैः ॥ ८५ ॥  
 क्वचित्कालानुसारेण सूरिर्देव्यमुपाहरेत् ।  
 संघपुस्तकवृद्धचर्यमयाचितमथालोकम् ॥ ८६ ॥  
 पार्श्वस्थवृत्तितां नैवालंबेताऽऽलंबनोज्जितः ।  
 न देव्यं दर्शयेद्भोके प्राणत्यागेऽपि आत्मनः ॥ ८७ ॥  
 शुत्कार्यं मलिनाद्वत्य यतेर्भूषणमंजसा ।  
 न तेन लज्जने योगी पवित्रतरमानसः ॥ ८८ ॥  
 मनः शुद्धं मयेद्यस्य सः शुद्ध इति भाष्यते ।  
 विना तेन कृतस्नानोऽप्यंगी नैव विशुद्धयति ॥ ८९ ॥  
 कार्याकार्यविचारश्च सर्वभाषाविशारदः ।  
 सर्वशास्त्रार्थयित्सापुर्धर्मस्य प्रतिपादकः ॥ ९० ॥  
 सगुणो निर्गुणो याऽपि भावको मान्यते सदा ।  
 नाज्जशा कियते तस्य तन्मूला धर्मयत्नता ॥ ९१ ॥  
 विसंश्रमका भक्त्या श्रेयानं यच्छन्ति योगिने ।  
 माण्डभाजनशुद्धिश्चैव निषेधोऽस्ति कथन ॥ ९२ ॥

१ " समुत्थाय नननान " इति " ४१ " पुष्पके पाठः । २ नमस्कृत्य  
 ३ कृतार्थवागविनः । ४ अथ श्लोकः स " पुष्पके नास्ति । ५ पदमार्ग  
 शब्दान्तरम् ।

भांडभाजनशुद्धोऽपि पार्ष्णी यो विनिन्दकः ।  
 यत्तेस्तत्र न भोक्तव्यं तदन्नं पापमुच्यते ॥ ९३ ॥  
 न योऽपि स्पर्शयोगी काष्ठचित्रकृता अपि ।  
 किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ॥ ९४ ॥  
 पंचचलयिनिर्मुक्ता घन्धमुक्ता मताः सताम् ।  
 न तं सुवर्णरूप्यादि स्पर्शान्ति गुरुसंयमाः ॥ ९५ ॥  
 मुखशुद्धिं न कुर्वन्ति नोपविश्य च भोजनम् ।  
 संघन सह कुर्यान्ति नापेक्षन्ते च किंचन ॥ ९६ ॥  
 चित्रस्यामपि संस्पृश्य योऽपि नैव भुंजते ।  
 तस्मिन्नहनि भुक्तं चेत् पण्ड्रे स्यात्पापनाशनम् ॥ ९७ ॥  
 पार्ष्णी यत्र संजाता जिह्वापस्थादिदंदिताः ।  
 ते सर्वे पापिनस्तस्माद्भक्ष्यं धरेद्यतिः ॥ ९८ ॥  
 संघापकारिणं मूर्धं संघवाहं प्रकल्पयेत् ।  
 अहिदंष्ट्रांगुलिर्यसि सर्वनाशाय जायते ॥ ९९ ॥  
 सम्यग्दर्शनशुद्धानां तपसाऽप्येन जायते ।  
 कर्मक्षयस्ततो नूनं तदेव प्रतिपालयेत् ॥ १०० ॥  
 सम्यक्त्वमूलं सर्वं स्याज्ज्ञानचारित्र्यमेव वा ।  
 विना तेनाऽपरे नैव कुर्यातां मोक्षसाधनम् ॥ १०१ ॥  
 प्रतिक्रमादिवेलायां यदि प्राप्येत तत्पथः ।  
 चतुर्दश्यष्टमी या वै तदा सैव प्रशस्यते ॥ १०२ ॥

१ " क " पुस्तके भांडमुक्ता इति पाठः । २ " क " पुस्तके मूर्धतीति पाठः ।  
 ३ " क " " ख " पुस्तकयोः " पण्ड्रे " इति पाठः पण्ड्रे " पण्ड्रे " इति  
 पुस्तके ४ " ते सर्वेऽप्यनपं तस्मात् " इति " क " पुस्तके पाठः । ५ " ख "   
 पुस्तके " वाग " इति स्थाने पुग इति पाठ - अत्र " वा " पाठो इत्यर्थः ।

यद्यत्रुत्तरं तत्तत्सर्वं बलययथा ।  
 तथा चतुर्दशीगुण्यतिथीनामपि सङ्गमः ॥ १०३ ॥  
 अधिका तिथिरादिष्टा धर्मकार्येषु सत्तमा ।  
 आदिमध्यान्ताभेदेन शक्तिरथापि हीयते ॥ १०४ ॥  
 जिनजन्मादिकाः सर्वाः क्रिया मासतिथिप्रमाः ।  
 नक्षत्रयोगकरणं न प्रधानं यतश्चलम् ॥ १०५ ॥  
 घटीचतुष्टये रात्रेः कुर्यात्पूर्वाह्नयन्मनाम् ।  
 मध्याह्नस्यापि नियमो नास्तीत्यमुदाहृतम् ॥ १०६ ॥  
 अत्राक्षे तु नास्तीति चतुष्टयसमाहितः ।  
 नक्षत्रदर्शनाङ्गुलैस्तामाधिकपरिमितम् ॥ १०७ ॥  
 या क्रिया कियते यत्र तिथी सा तत्र शम्भता ।  
 अनागतं ह्यतीतं च तस्मिन्नास्तीत्यर्थं मतं ॥ १०८ ॥  
 शिष्टास्त वाच्यमाना स्यान्ति मेघरश्मिजनैः ।  
 विष्णोर्वा वृद्धानि यावि तदाऽनवययने मतम् ॥ १०९ ॥  
 मानोरुपपत्तो नास्तीति स्यात्स्वायम्भवात् ।  
 तथा मूर्ति प्रदर्शनं योग्यकृत्यम् निश्चयः ॥ ११० ॥  
 मन्त्रागृह्णन्ता मातं निम्ननेमिनिर्कारमातुः ।  
 क्रियाम् विष्णवे तत्रः पुर्यान्वायमनागतः ॥ १११ ॥  
 तीर्थेऽपि सर्वमावासी मने कनाऽनुपपत्तौ ।  
 तस्मिन्नास्तीति वाक्येन विवक्षितम् ॥ ११२ ॥

संग्रहायुक्तम्

माघन्मन्त्रयियादिद्विरदपदुषटाटोपकोपापनोका

घाणो यस्याऽभिरामा मृगपतिपदवीं गच्छते देयमान्या ।

तः श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरि भायानुभावी

दैवज्ञ बुन्दबुन्दप्रभुपद्विनयः स्वागमाचारर्चनुः ॥ ११३ ॥

इति श्रीभक्तारक इन्द्रनन्दिप्रणीतः श्रीनीतिसारः समाप्तिपकाणः ।

इति नीतिसारः ।

## मोक्ष-पंचाशिका ।

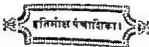


ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपसां संहतिश्च या ।  
 सम्यक्पदोपसंसृष्टा मोक्षमार्गः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥  
 गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टस्यैव धर्मिणः ।  
 वैशिष्ट्ययुक्तं ग्रहणं ज्ञानं साकारमुच्यते ॥ २ ॥  
 मुख्यत्वे धर्ममात्रस्य गौणत्वे धर्मिणस्तथा ।  
 अनाकारं दर्शनं तत्कीर्तितं मुनिपुङ्गवैः ॥ ३ ॥  
 संशयश्च विपर्यासोऽनध्यासश्च भयोऽभिधा ।  
 दोषस्तेन विनिर्मुक्तं ज्ञानं सम्यक्प्रचक्षते ॥ ४ ॥  
 अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम् ।  
 शुक्तिं वा रजतं किं वेत्येवं सद्गीतिलक्षणम् ॥ ५ ॥  
 विरुद्धकोटिसंस्पर्शा व्यचसायो विपर्ययः ।  
 शुक्ती रजतबुद्धिः सा विपर्यासो भ्रमोऽपि च ॥ ६ ॥  
 विशिष्टस्य विशेषाणामस्य च स्वेन घेदनम् ।  
 गच्छतस्तृणसंस्पर्श इवानध्यास इष्यते ॥ ७ ॥  
 गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते ।  
 उपसित्वयनेयत्वं पर्यायास्तस्य शास्त्रताः ॥ ८ ॥  
 भूतं चाऽपि भविष्यं च भवतीति विनिश्चितम् ।  
 यद्वतीति विनष्टं तद्वागाम्युत्पादलक्षणम् ॥ ९ ॥  
 वर्तमानं भूयं प्रोक्तमेवं द्रव्येषु पर्ययाः ।  
 उत्पद्यति विलीयते तरंगा इव पाथसि ॥ १० ॥  
 उत्पादययनेयत्वं नैतत्कालस्य कल्पना ।  
 यतः स वर्तमानोऽयस्यान्तरनिवर्धनम् ॥ ११ ॥  
 पूर्णज्ञानानुत्तरम् भिन्नापन्धां करोति सः ।  
 तेनारूपिषु शुद्धेषु न तस्य गतिरिष्यते ॥ १२ ॥

स्वयं सिद्धं मतं द्रव्यं गुणास्तत्सत्यत्तिनः ।  
 तत्राव्यावर्तकाः केचित्केचिद्व्यावृत्तिहेतवे ॥ १३ ॥  
 अतिव्याप्तिस्तथाऽव्याप्तिरसंभय इति त्रिधा ।  
 दोषस्तेन विनिर्मुक्तो गुणो व्यावर्तकः स्मृतः ॥ १४ ॥  
 अलक्ष्ये वर्तनां प्रादुरातिव्याप्तिं बुधा यथा ।  
 गुण आत्मन्यरूपित्यमाकाशादिषु हस्यते ॥ १५ ॥  
 लक्ष्यकदेशवृत्तिरमव्याप्तिः कीर्तिता बुधैः ।  
 यथा जीवस्य देहत्यमनिर्द्धं परमात्मनि ॥ १६ ॥  
 लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभय इतीरितः ।  
 यथा पर्णाद्विमुक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि ॥ १७ ॥  
 एतद्दोषप्रयार्तितां हि व्यावृत्त्यै कलक्षणम् ।  
 भवेदुपयोगो जीवस्य भूतत्वं पुद्गलस्य वा ॥ १८ ॥  
 क्रमवृत्तास्तु पर्याया अवस्थाभेद एव ते ।  
 केचिद्व्याख्याः केचिद्वृत्तिनिष्ठा इति द्विधा ॥ १९ ॥  
 भ्रामरादयो जन्ता स्केधदेगादयो परे ।  
 उभयोर्ज्ञानवर्णाद्या द्विधैव पर्याया मताः ॥ २० ॥  
 शुद्धानुद्धा इमे श्रोताः मिद्धाः संसारिणस्तथा ।  
 केवलं वाय मत्यादि कीर्तितं मुनिपुंगवैः ॥ २१ ॥  
 स्यान्न्यभेदाद् द्विधा या ते निजापरणकर्मणा ।  
 क्षयापशमसंभूता क्षयाद्वा धृतिरात्मनः ॥ २२ ॥  
 केवलप्रज्ञया तस्या जघन्योऽज्ञास्तु पर्ययाः ।  
 तद्वान्त्येन निष्पन्ना सा धृतिर्निजपर्ययाः ॥ २३ ॥  
 पदस्थानपतिताश्चाद्याः केवलं तु क्षयोद्भयम् ।  
 तेन तत्पर्ययास्तुल्याः सदावस्थितरूपिणः ॥ २४ ॥  
 क्षयापशमयैचिद्ध्यं क्षेययैचिद्ध्यमेव वा ।  
 जीवस्य परपर्यायाः पदस्थानपतिता अमी ॥ २५ ॥



तत्पर्वं तु परामर्शोद्दामसाध्यानि सूचयेत् ।  
 तदुपाधारणो धर्मव्यवसायेन प्रकीर्तितः ॥ ४९ ॥  
 सर्वेषामेव भव्यानां वदामार्थं माय एव हि ।  
 न चिन्ता सर्वेषां नृणां वदन्परसाविनिश्चयान् ॥ ५० ॥  
 एतदवस्थां यथा भाग्यं व्यर्थं व्याज्ज्ञानकं विना ।  
 एवं वदन्ति सर्वानि मुधा येतनमन्तरा ॥ ५१ ॥  
 तस्य व्यामोहसंज्ञातिविषयांमविषयिणा ।  
 हायमेव प्रतीतिषां भ्रष्टा सा कीर्तिता दुर्धृ ॥ ५२ ॥  
 एवं भ्रष्टायतो जन्तो भवार्थेयेन्द्रियक्षणे ।  
 आत्मानुभयविस्फूर्तादानन्दो वदाम् मतम् ॥ ५३ ॥  
 तन्नामदरताध्यागधारिणं निश्चयात्मकम् ।  
 कामविषयहेतुना निगदो व्यवहारतः ॥ ५४ ॥  
 निराकुलत्वञ्च सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः ।  
 एतात्मनस्य सर्वेषां चारित्र्यं निश्चयात्मकम् ॥ ५५ ॥  
 अगोचरं तद्वचसामक्षसौख्यातिरेकमाह ।  
 न भवेत् न स्पृहा यत्र चारित्र्यं निश्चयात्मकम् ॥ ५६ ॥  
 आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यायत्पर्याय या ।  
 उन्माहो रीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः ॥ ५७ ॥  
 तस्मार्थायममुदेकाविष्टारोपस्तपो विदुः ।  
 बाह्यं वाक्यायत्संभूतमान्तरं मानसं स्मृतं ॥ ५८ ॥  
 एतद्यतुष्वयं मार्गः सगुहाये विनिश्चितः ।  
 तमारोध्य गतास्तूर्णं निर्वृतिं मुनिसत्तमाः ॥ ५९ ॥  
 सत्यगिष्यचिन्तयेद्यस्तु मोक्षपंचाशिकामिमाम् ।  
 अभ्यस्यन्नात्मनो रूपं विकारेभ्यो निवर्तते ॥ ५० ॥





## श्रुतावतारः ।

सर्वनाकीन्द्रयन्द्गतकल्याणपरंपरं देवं ।

प्रणिपत्य वर्धमानं श्रुतस्य यक्ष्येऽहमवतारम् ॥ १ ॥

यद्यप्यनाद्यनिधनं श्रुतं तथाऽप्यत्र तन्निभेन मया ।

कालाभयेण तस्योत्पत्तिविनाशी प्रयक्ष्येते ॥ २ ॥

भरतेऽस्मिन्नयसर्पिण्युत्सर्पिण्याद्वयो प्रयत्नेते ।

काली सदाऽपि जीयोत्सेधायुर्दासवृद्धिकरी ॥ ३ ॥

एकैकस्य पृथग्दशकोटीकोटयः प्रमाणमुद्दिष्टम् ।

याधुर्युपमानायेती समाश्रिती भवति कल्प इति ॥ ४ ॥

तत्रायसर्पिणीयं प्रवर्तमाना भवेत्समाऽस्याध ।

कालविभागा मोक्ताः पदेय कालप्रभेदशः ॥ ५ ॥

सुखमसुखमाद्ययाद्य सुखमान्या सुखमदुःखमेवपरा ।

दुःखमसुखमान्या दुःखमाऽतिपूर्वा पराऽत्येव ॥ ६ ॥

तत्र क्रमाद्यतश्चस्तिष्ठा द्वे सागरोपमाख्यानाम् ।

कोटीकोटयस्त्रिगुणामाद्यानां भवति परिमाणम् ॥ ७ ॥

कांटीकांटीवर्णमदह्यैरेतेषां तुर्गंशमिदम् ।

त्रिगुणस्त्रिंशधीनां परिमाणं भवति त्रयांशः ॥ ८ ॥

एकान्तर्गविशया वर्णमदह्यैर्मिता नमोऽपान्या ।

तार्वाङ्गरेव कलिना वर्णमदह्यैः समा वर्णा ॥ ९ ॥

धनुर्वा वटश्चत्वारि द्वे च भावने ज्ञानानि पथेव ।

हस्ताः भतारग्नः वटकादिकमातन्तांगेयः ॥ १० ॥

पञ्चानि त्रीणि द्वे तथैकैकं वर्णपूर्वकोटी च ।

विंशच्छतं च विंशतिरङ्गानां तन्त्रिगुणामा ॥ ११ ॥

तद्वाच्योऽप्येतीते समये सम्पूर्णोऽस्तुतीयायाः ।  
 पस्योपमाष्टमांशान्पूर्णाया ब्रुहधरा ये स्तुः ॥ १२ ॥  
 तेषामाद्यो माम्ना प्रतिभृतिः सन्मतिर्द्वितीयः स्यात् ।  
 क्षेमदूरस्तुतीयः क्षेमन्धरमाद्रिस्तस्तुर्यः ॥ १३ ॥  
 र्क्षेमदूरस्तथाऽन्य र्क्षेमन्धरमाष्टयो विमलयाहः ।  
 चक्षुष्मांश्च यदरयानभिचन्द्रचन्द्राभनामा च ॥ १४ ॥  
 मरुदेयनामधेयः प्रगेनजिष्ठाभिराजनामाऽन्य ।  
 दामाधिकाराननुशामति निजतेजसः स्वलितान् ॥ १५ ॥  
 दाकारं पञ्च ततो दामाकारं च पञ्च पद्यान्वे ।  
 दामाधिकारान्कथयन्ति तत्रोद्गण्डर्भ भरतः ॥ १६ ॥  
 रवितारालोकेभ्यस्त्रयो वृणामपनयन्ति भयमादृषाः ।  
 दीपविशोऽनमयांशोऽस्तुतिषादादिरोद्दमतः ॥ १७ ॥  
 कथयन्ति तु चत्वारः सुनेक्षणाङ्गीतिमपहरत्यन्य ।  
 मामकृतिं दागधरमभि दिगुकेलिं प्रबुद्धतेऽन्यः ॥ १८ ॥  
 जीयति सुतः सदान्यो जलतरणं गर्भमलविशुद्धिं च ।  
 मालनिकर्तनमपि च घयोऽपि परे व्यपदिशन्ति वृणाम् ॥ १९ ॥  
 अथ नाभिराजसृपतेर्मरुदेव्यो व्यजनि नन्दनो ध्रुवम् ।  
 तीर्थं वृणामाद्योऽग्नौ प्रवर्त्य भरते भृशं तीर्थम् ॥ २० ॥  
 निर्याणमवाप ततः पञ्चाशत्क्षकोटिमितवार्द्धिः ।  
 यावद्विचित्रिस्तया समागतं तत् क्षुतं सकलम् ॥ २१ ॥  
 जातस्ततोऽजितजिनः शिष्येभ्यः सांघेयि सम्यगुपदिश्य ।  
 तत् धृगमसिले प्रापन्निर्याणमनुत्तरं तद्वत् ॥ २२ ॥  
 पयमजितादिचन्द्रप्रमान्ततीर्थं दिनामतिकान्ता ।  
 सागरकोटीनां त्रिंशकमाद्दशभिरथ नवभिः ॥ २३ ॥

तेऽपि ततस्तद्येषितमीदृशमावेक्ष्यन् स्वकीयगुरोः ।  
 सोऽपि ततो द्विजमुख्यस्तमपूर्वं छात्रमित्यवदत् ॥ ४८ ॥  
 शास्त्राणि करतलामलकायन्तेऽस्माकमिह समस्तानि ।  
 अपरेऽपि बादिनेऽस्माज्जायन्ते नष्टदुष्टमदाः ॥ ४९ ॥  
 तत्केन हेतुना तद्व्याख्यानं नैव रोचते तुभ्यम् ।  
 कथयेति ततस्तस्मै प्रतिवचनमुवाच सोऽपीत्यम् ॥ ५० ॥  
 यदि सर्वशास्त्रतत्त्वं जानन्ति भवन्त एव तदमुष्याः ।  
 आर्यायाः कथयन्त्यर्थमिति पठति तत्काव्यम् ॥ ५१ ॥  
 पदद्वयनवपदार्थत्रिकालपञ्चास्तिकायपदफायान् ।  
 विदुषो यरः स एव हि यो जानाति प्रमाणनयः ॥ ५२ ॥  
 भुत्वा तेनेत्युक्तामभूतपूर्वामतीव विषमार्थाम् ।  
 आर्यामिमां ततोऽभ्याः सोऽर्थमजानन्निति तमूचे ॥ ५३ ॥  
 कस्य च्छात्रस्यागम्यं कथयेत्याह सोऽपि भद्रार्हत् ।  
 ध्रुवधर्ममानभट्टारकस्य जगतीगुरोश्छात्रः ॥ ५४ ॥  
 भेदार्थनन्दनस्य छात्रस्यैवेन्महेन्द्रजालविद् ।  
 इवागमं जनस्य प्रतिवर्णयतो विद्यन्मार्गं ॥ ५५ ॥  
 तन्नेतव विवादं सार्धं प्रकरामि किं त्यया कायम् ।  
 त्वमो जयापजययोर्ममेव विद्वस्तु लघुता स्यात् ॥ ५६ ॥  
 ण्हि प्रजाय इत्यभिधाय पुराणाय गौतमः शाकम् ।  
 समदगृतिं ध्यातुम्यामापात्राण्यन्दिभूतिभ्याम् ॥ ५७ ॥  
 हृष्टा मानस्तस्मै विगलितमानोऽप्यो द्विजग्माऽर्मान् ।  
 ध्यातुम्यां सह तितरतिमवलोक्य परीत्य तं भवत्या ॥ ५८ ॥  
 जन्वा नृन्वा स्वकवाऽऽत्पत्तिग्रहमनाग्रहो वीशाम् ।  
 आकाशादिममजमुज्ज्वल सन्निवृत्तस्य च ॥ ५९ ॥

अथ भगवान् किञ्जीवोस्ति नास्ति या किङ्गुणः कियान्कीदृक्  
इत्यादिषट्पुत्रप्रमिते तद्गणेशप्रभपर्वन्ते ॥ ६० ॥

जीवोऽस्त्यनादिनिधनः शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता ।  
सदसत्कर्मफलानां भोक्ता स्वोपास्ततनुमात्रः ॥ ६१ ॥

उपसंहरणविर्मपणधर्मशानादिभिर्गुणैर्युक्तः ।  
धीर्ध्यातृत्पत्तिव्ययलक्षणः स्वसंबन्धनमाद्यः ॥ ६२ ॥

नोकर्मकर्मपुद्गलमनादिरूपास्तकर्मसम्बन्धात् ।  
शृङ्गन् मुञ्चन् भ्राम्यन् भवे भवे तत्क्षयान्मुक्तः ॥ ६३ ॥

इत्याद्यनेकभेदैस्तथा न जीवादिवस्तुसद्भाषम् ।  
दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरवाधत् ॥ ६४ ॥

ध्यायणबहुलप्रतिपद्युदितं शकं रीद्विनामनि मुहूर्तं ।  
अभिजिह्वते शशांके तीर्थात्पत्तिर्वभूव गुरोः ॥ ६५ ॥

तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्विद्ययचोऽयबुध्य तत्त्वेन ।  
मन्थोद्भूतपूर्वनाम्ना प्रतिरक्षितो युगपदपराद्धे ॥ ६६ ॥

प्रतिपादितं ततस्तत् श्रुतं समस्तं महात्मना तेन ।  
प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय ॥ ६७ ॥

सोऽपि प्रतिपादितवान् जम्बूनाम्ने सधर्मणे स्वस्य ।  
तेभ्यस्ततो गणिभ्योऽर्थैरापि तदर्थार्तं मुनिवृषभिः ॥ ६८ ॥

सन्मतिजिनरत्नतोऽभावासन्नायिमुक्तिभयसस्यानाम् ।  
परमानन्दं जनयन् धर्मासुतवृष्टिसेकेन ॥ ६९ ॥

त्रिंशत्तमिह वर्षाणां विदित्य बहुजनवद्वान् जगत्पूजयः ।  
सरसिजयनपरिकलिते पापापुरषद्विहयाने ॥ ७० ॥

यत्सरषत्पुष्टयेऽर्द्धत्रिमासरीने षतुर्धकालस्य ।  
दोषे कार्तिककृष्णषतुर्दशौ निर्वृतिमवाप ॥ ७१ ॥

भगवत्परिनिर्याणक्षणे एवायाप केवलं गणभूत ।  
 गौतमनामा सोऽपि द्वादशभिर्दत्तस्मृतः ॥ ७२ ॥  
 निर्याणक्षणे एवासायापत्केवलं सुधर्ममुनिः ।  
 द्वादशवर्षाणि विदित्य सोऽपि मुक्तिं परमाप ॥ ७३ ॥  
 जम्बूनामाऽपि ततस्तन्निर्द्वैतिसमय एव कैवल्यम् ।  
 प्राप्पाष्टत्रिंशतामिह समा विदित्याप निर्वाणम् ॥ ७४ ॥  
 एते त्रयोऽपि मुनयोऽनुबद्धकेवलविमूतयोऽमीषाम् ।  
 केवलद्विधाकरोऽस्मिन्नस्तमवाप व्यतिक्रान्ते ॥ ७५ ॥  
 जम्बूनामा मुक्तिं प्राप यदासी तथैव विष्णुमुनिः ।  
 पूर्वाङ्गभेदभिन्नाशीपश्रुतपारगो जातः ॥ ७६ ॥  
 एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽवाप्तन् ।  
 नन्द्यपराजितगोवर्धनाद्वया भद्रबाहुश्च ॥ ७७ ॥  
 एषां पञ्चानामपि काले वर्षशतसम्मितेऽस्तीति ।  
 दशपूर्वविदोऽभूवन्तत एकादश महात्मानः ॥ ७८ ॥  
 तेषामाद्यो नाम्ना विद्याखदसस्ततः क्रमेणासन् ।  
 प्रोष्ठिलनामा क्षत्रियसंज्ञो जयनागसेनसिद्धार्थाः ॥ ७९ ॥  
 धृतिपेणविजयसेनौ च बुद्धिमान्नाङ्गधर्मनामानौ ।  
 एतेषां वर्षशतं त्र्यशीतियुतमजनि युगसंख्या ॥ ८० ॥  
 नक्षत्रो जयपालः पाण्डुर्दुर्मसेनकंसनामानौ ।  
 एते पथापि ततो बभूवुरेकादशाङ्गधराः ॥ ८१ ॥  
 विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूवु युगसंख्या ।  
 आचाराङ्गधराश्चत्वारस्तत उक्त्वयन् क्रमशः ॥ ८२ ॥  
 प्रथमस्तेषु सुमद्रोऽभयभद्रोऽन्याऽपरोऽपि जयबाहुः ।  
 लोहार्यान्त्यद्येतेऽष्टादशवर्षयुगसंख्या ॥ ८३ ॥

विनयधरः श्रीदत्तः शिवदसोऽज्योऽर्द्धदत्तनामते ।

आरातीया यतयस्ततोऽभवत्तद्वर्षदेशधराः ॥ ८४ ॥

सर्वांगपूर्वदेशीकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते ।

श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्द्धहल्याख्यः ॥ ८५ ॥

स च तत्प्रसारणाधारणाविशुद्धातिसत्त्विकोद्युक्तः ।

अष्टांगनिमित्तक्षः संधानुषद्दनिग्रहसमर्थः ॥ ८६ ॥

आस्त संवत्सरपञ्चकावसाने युगप्रतिक्रमणम् ।

कुर्यन्त्योजनशतमात्रवर्तिमुनिजनसमाजस्य ॥ ८७ ॥

अथ सौम्यज्ञा युगान्ते कुर्यन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम् ।

मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतयः ॥ ८८ ॥

तेऽप्युत्तुर्भगवन्वयमात्मात्मीयेन सकलसंघेन ।

सममागतास्ततस्तद्वचः समाकर्ण्य सोऽपि गणी ॥ ८९ ॥

काले कलावमुष्मिन्निधितः प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम् ।

गणपक्षपातभेदैः स्यात्स्यति मोदासभायेन ॥ ९० ॥

इति सन्निवृत्तगुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु ।

कौन्दि'संघ'भिधानान् कौन्दि'द्वीरा'द्वयानकरोत् ॥ ९१ ॥

प्रयितादशोकघाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु ।

कौन्दि'दपराजिता'द्वयान्कौन्दि'द्विया'द्वयानकरोत् ॥ ९२ ॥

पथस्तूप्यनिवासादुपागता येऽजगारिणस्तेषु ।

कौन्दि'त्सेना'भिषयान्कौन्दि'मद्रा'भिधानकरोत् ॥ ९३ ॥

ये शात्मलीमदाहुममूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु ।

कौन्दि' 'गुणधर'संज्ञान्कौन्दि'गुता'द्वयानकरोत् ॥ ९४ ॥

ये खण्डकेसरहुममूलान्मुनयः समागतास्तेषु ।

कौन्दि'त्सिदा'भिषयान्कौन्दि'घन्दा'द्वयानकरोत् ॥ ९५ ॥

अंक च—

[illegible]

देवेन्द्रदेवानामानि वेणाकतर्दोपुरे महामहिमा ।  
 ममुदितगुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयत्तेषाम् ॥ १०६ ॥  
 आदाय लेखपत्रं तंऽप्यथ तद्ब्रह्मचारिणो हरताम् ।  
 प्रयिमुष्य बन्धनं याचयाम्बभूवुस्तदा महात्मान् ॥ १०७ ॥  
 रयस्ति भीमस्तत्पूजयन्तगतनिकटचन्द्रगुहा-  
 दासाद्धरमेनमर्णा वेणाकतस्तमुदितयर्गान् ॥ १०८ ॥  
 अभियन्त्य कार्यमेवं निगदायस्माकमापुरयशिष्टम् ।  
 स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शान्तस्य व्युत्थिति ॥ १०९ ॥  
 न स्याद्यथा तथा द्वौ यर्ताभ्वरौ महणभारणसमर्थौ ।  
 निशितप्रज्ञौ सूर्यं प्रस्थापयन्तति लेखार्थम् ॥ ११० ॥  
 सम्यगवधार्यै तैरपि तथाविधौ द्वौ गुनी समन्विष्य ।  
 प्रतिनी तावपि गत्या चापतुररमूर्जयन्तगिरिम् ॥ १११ ॥  
 आगमनदिने च तयोः पुरे धरमेनसूरिरपि राश्री ।  
 निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषार्थक्षत स्वप्ने ॥ ११२ ॥  
 तत्स्वप्नेक्षणमात्राञ्जयतु भीदंयतंति ममुपलपन् ।  
 उदतिप्रदतः प्रातः समागतार्थक्षत गुनी द्वौ ॥ ११३ ॥  
 प्राशूर्णिकंचितविधिं तयोर्विधायादरात्ततस्ताभ्याम् ।  
 विभ्राम्य श्रीन्दिवसान् निवेदितागमनहेतुभ्याम् ॥ ११४ ॥  
 सुपरीक्षा दृष्टिर्यतिकरीति सन्निवन्त्य दत्तवान् सूरिः ।  
 साधयितुं विधं द्वे दीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥ ११५ ॥  
 श्रीमश्वेमिजिनंश्वरसिद्धिशिष्यां विधानतो विद्या-  
 मंसाधनं विदधतांस्तथांश्च पुरतः स्थिते देव्या ॥ ११६ ॥  
 दीनाक्षरविद्यासाधकस्य देव्यंकलोचनामेऽस्थात् ।  
 अधिकाक्षरविद्यासाधकस्य सा इन्तुरा तस्यै ॥ ११७ ॥



इष्टा ताविति देव्यो न देयनानां म्यभाय एव इति ।  
 प्रविचिन्त्य ततो विद्यामंत्रव्याकरणविधिर्नय ॥ ११८ ॥  
 प्रस्तार्य न्यूनाधिक्यर्णक्षेपापचयविधानेन ।  
 पुनरपि पुरतश्च तयोर्द्व्यो ते दिव्यरूपेण ॥ ११९ ॥  
 केयूरहारनूपुरकटककटीसूत्रमासुरदारिरे ।  
 अमे स्थित्वा यवती किं करणीयं प्रयदेतेति ॥ १२० ॥  
 तावप्युचतुरेतस्मास्माकं कार्यमस्ति तत्किमपि ।  
 ऐहिकपारश्रिकयोर्मवतीभ्यां मिध्यति यदत्र परम् ॥ १२१ ॥  
 किन्तु गुरुनयोगादावाभ्यां विहितमेतदिति वचनम् ।  
 भुत्वा तयोरर्भाष्टं ते जगमतुः स्वास्पदं देव्यो ॥ १२२ ॥  
 विद्यासाधनमेवं विधाय तोषान्ततो गुरोः पार्श्वम् ।  
 गत्वा तौ निजवृत्तान्तमवदतां तद्यथावृत्तम् ॥ १२३ ॥  
 सोऽप्यतियोग्याविति सचिन्त्य ततः सुप्रदास्तातिचिवेदा-  
 नक्षत्रेषु तयोर्व्योख्यातुं प्रारब्धवान् मन्यम् ॥ १२४ ॥  
 ताभ्यामप्यध्ययनं कुर्वाणाभ्यामपास्ततन्द्राभ्याम् ।  
 परममविलङ्घयभ्यां गुरुविनयं ज्ञानविनयं च ॥ १२५ ॥  
 दिवसेषु कियत्स्वर्पि गतेष्वयापादमासि सितपक्षे ।  
 एकादश्यां च तिथौ मन्थसमाप्तिः कृता विधिना ॥ १२६ ॥  
 तद्दिन एवैकस्य द्विजपंक्तिं विषमितामपास्य सुरैः ।  
 कृत्वा कुन्दोपमितां नाम कृतं पुष्पदन्त इति ॥ १२७ ॥  
 अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयघोषैर्गन्धमात्यधूपाद्यैः ।  
 भूतपातिरेव इत्याहूतो भूर्तमहे कृत्वा ॥ १२८ ॥  
 स्वासन्नमार्तिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्षेदामेतयोरस्मिन् ।  
 इति गुरुणा सचिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन ॥ १२९ ॥

प्रियदितयश्चैतमुच्य तावुभावेय पुरीश्वरं प्रदत्ता ।  
 तावपि जयाभिर्दिवसैर्गत्या तत्पत्तनमवाप्य ॥ १३० ॥  
 यंयं प्रपृष्ट तत्रापादं मारयमितपक्षपक्षम्याम् ।  
 वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ इक्षिकाभिमुखं ॥ १३१ ॥  
 जामतुरथ करदाटे तयोः न यः पुष्पदन्तनाममुनिः ।  
 जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽर्मा भागिनेयं वयम् ॥ १३२ ॥  
 इत्या दीक्षी तर्म्म तेन समं देशमात्रं दनवात्मम् ।  
 तर्था भूतबालिरपि मधुरायां द्विददंशेऽग्रथात् ॥ १३३ ॥  
 अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम् ।  
 कर्मप्राकृतिप्राभूतमुपमंतायेव पक्षभिरिह खण्डैः ॥ १३४ ॥  
 वायुन् गुणर्जायादिकविंशतिविधसूत्रसत्त्वरूपणया ।  
 पुनः जीवस्थानायाधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ॥ १३५ ॥  
 सूत्राणि तानि ज्ञानमध्याप्य ततो भूतबालिगुरो पार्श्वम् ।  
 तद्भिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयद्गमदंशोऽग्रि ॥ १३६ ॥  
 तेन तत परिपट्टितो भूतबालि सत्त्वरूपणां भूत्या ।  
 षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥ १३७ ॥  
 विज्ञायात्यापुष्यामत्पमर्तान्मानवान् प्रतीत्य ततः ।  
 द्वय्यवरूपणायाधिकारः खण्डपञ्चकस्यान्यक् ॥ १३८ ॥  
 सूत्राणि षट्सहस्रपन्थान्यथ पूर्यसूत्रसाहितानि ।  
 प्रविरच्य महाबन्धादयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥ १३९ ॥  
 विंशत्सहस्रसूत्रमन्थं व्यरचयदसी महात्मा ।  
 तेषां पञ्चानामपि खण्डानां शृणुत नामानि ॥ १४० ॥  
 आद्यं जीवस्थानं शुद्धकबन्धादयं द्वितीयमतः ।  
 त्र्यन्धस्वामित्वं भाषयेदन्तर्गणाखण्डे ॥ १४१ ॥

एवं पदखण्डागमरचनां प्रविधाय भूतप्रत्यार्यः ।  
 आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ॥ १४२ ॥  
 ज्येष्ठसितपक्षपक्षभ्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।  
 सत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥ १४३ ॥  
 भूतपयमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।  
 अद्यापि येन तस्यां भूतपूजां कुर्यते जैनाः ॥ १४४ ॥  
 जिनपालितं ततस्तं भूतघलिः पुष्पदन्तगुरुपार्श्वम् ।  
 पदखण्डान्यव्यध्यगमयत्तत्पुस्तकसमेतम् ॥ १४५ ॥  
 अथ पुष्पदन्तगुरुरपि जिनपालितहस्तसंस्थितमुदीक्ष्य ।  
 पदखण्डागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम् ॥ १४६ ॥  
 सम्पशमिति समस्तांगोत्पन्नमहाभुतानुरागमरः ।  
 चातुर्वर्ण्यसुमंधान्विनो विहितवान् क्रियाकर्म ॥ १४७ ॥  
 गन्धाक्षतमाह्व्याम्बरयितानथण्डाध्यजादिभिः प्राग्वत् ।  
 भूतगणभ्यामकरोत्सिद्धान्तसुपुस्तकमहेज्याम् ॥ १४८ ॥  
 एवं पदखण्डागमसूत्रोत्पत्तिं प्रख्याप्य पुनरभुता ।  
 कथयामि कथायथाभूतस्य गारुडमम्भृतिम् ॥ १४९ ॥  
 ज्ञानप्रसादभेज्जगत्प्रथमपूर्वस्थवृक्षमथस्तुनीय- ।  
 यायांशंवयाभक्तज्ञोऽभूत् गुणधरमुनीन्द्रः ॥ १५० ॥  
 गुणधरधरमनान्ययगुर्याः पुर्यापरकमोऽरमाभिः ।  
 न तावन्तं तदन्ययकथकागममुज्जितनाभायात् ॥ १५१ ॥  
 अथ गुणधरमुज्जितायः सकलायमाभुतान्यथ तांयायो- ।  
 र्वांगयामूनकापरसंज्ञां भाव्यतिकशक्तिमतेषु ॥ १५२ ॥  
 इत्यधिकारोऽस्यां नृत्तं शर्पं च मूलप्रज्ञाया नाम ।  
 विवरणमाश्रमां च इत्यधिकं पदखादानमकार्णित् ॥ १५३ ॥

एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि ।  
 प्रविरच्य व्याख्यौ स नागहस्त्यार्यमधुम्याम् ॥ १५४ ॥  
 पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः ।  
 यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमतिः ॥ १५५ ॥  
 तेन ततो यतिपतिना सद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण ।  
 रचितानि पटसहस्रमन्यान्यथ चूर्णिसूत्राणि ॥ १५६ ॥  
 तस्यान्ते पुनरुच्चारणादिकाचार्यसंज्ञकेन ततः ।  
 सूत्राणि तानि सम्यगधीत्य ग्रन्थार्थरूपेण ॥ १५७ ॥  
 द्वादशगुणितसहस्रग्रन्थान्युच्चारणारूप्यसूत्राणि ।  
 रचितानि वृत्तिरूपेण तेन तच्चूर्णिसूत्राणाम् ॥ १५८ ॥  
 गाथाचूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहरतं कपायार्यः ।  
 श्रामृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥ १५९ ॥  
 एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।  
 गुरुपरिपाटया ज्ञातः सिद्धान्तः पुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥  
 भीषद्यनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिणामः ।  
 ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा पटपण्डाद्यत्रिगण्डस्य ॥ १६१ ॥  
 काले ततः कियत्पि गते पुनः शामपुण्डमंशेन ।  
 आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कात्स्न्यात् ॥ १६२ ॥  
 द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः ।  
 पण्डेन विना गण्डेन वृधुमहाबन्धसंज्ञेन ॥ १६३ ॥  
 प्राकृतमंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता ।  
 तस्माद्वारापुनरपि काले गतयति कियत्पि च ॥ १६४ ॥  
 अथ तुम्बुलूरनामाऽचार्योऽधुस्तुम्बुलूरगरामे ।  
 पण्डेन विना गण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥ १६५ ॥

10

11

12

13

14

15

16

17

18

19

तस्य तर्मादे मकलं मिहान्तमधीत्य वीरगेनगुरुः ।  
 उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानवृ च हिलेन ॥ १७८ ॥  
 आगत्य चिबकृदात्मनः न भगवान्परोरनुज्ञानावृ ।  
 वाटमाये चाप्राप्ततेन्द्रकृतमिभयूदे स्थित्वा ॥ १७९ ॥  
 एतावदाप्रदमिमवाप्य द्रव्यवटसज्जतस्ततस्तस्मिन् ।  
 उपरितमबन्धनाद्यधिकारिष्टादशविकल्पाः ॥ १८० ॥  
 मत्कर्मनामधेयं वपुं नष्टं विधाय संक्षिप्य ।  
 इति वण्णो नष्टानो बन्धमहर्षिर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥  
 माहृतमंग्रुतमायामिधो टीका विलिप्य धयलाम्बाम् ।  
 जयधयली च कषाययाभृतकं सप्तगुणो विभक्तीनाम् १८२  
 विज्ञातिसदस्यमहृन्धरचनया संयुतो विरप्य विषम् ।  
 घातस्तनः पुनस्तस्मिन्पुष्यो जयमेनगुरुनामा ॥ १८३ ॥  
 तच्छुषं चात्यारिना महर्षिः सुमावितयान् ।  
 अलधवलैव वष्टिसदस्यमन्धोऽमवर्द्धका ॥ १८४ ॥  
 एष भुतावतारो निरुपितः भीन्द्रनः निःपतिपतिना ।  
 भुतपञ्चम्यामृषिमिर्यामर्षो भवलोकेभ्यः ॥ १८५ ॥  
 यत्किञ्चिद्व लिखितं समयादिदृष्टं मयाऽन्यबोधेन ।  
 अपनीय तदाममतस्ययेदिनः शोधयन्त्यैः ॥ १८६ ॥  
 श्लोकद्वयेन वृत्तैर्नकेनाशीतिशतमितार्याभिः ।  
 मनोत्तरादिशत्या मन्धेनार्य परिसमाप्तः ॥ १८७ ॥

॥ इति ' ईदमदि ' आचार्यकृतः भुतावतारः ॥



यः पार्श्वं मास्ति मध्यः प्रशममुपगता यस्य नाऽऽशा विनाश्या  
न ह्यर्थं यस्य विसे रमरदहनशिराः शक्तिमाजो न यस्य ।  
यः क्लेशानामगोहा कारणवरणतिः यदस्य यस्या कथं नो  
त्यद्वयार्थं भो ! विधित्तुर्भवति न महती मोषहागाय वेदा ५  
अर्था वेदे दधानं 'द्विपति भञ्जति वा कर्दसे पुंषुमिदा  
नो रोदः सम्मनो वा विनृपनवर्कदिप्यधीनोद्युर्कवा ।  
येषां द्वेषोऽर्थभीष्टे हनति नमति वा निदितः संस्तुमिदा  
सर्वार्थं ते पुताशा दधतु विवधनीष्टा धृति योऽपि भूयः ॥ ५ ॥  
भूयामि त्वं महतिं क्षिपं तपने ' परं दुष्यकाशानभासिं'  
उपायोनिं' त्वं पयोनिं क्षरे मिहरे ' तरे भुम्यदुर्वीमनासिं' ।  
भोज्यामि त्वं रजामि गृज पयन ' दिभं भूरि मूच्छंत्तरासिं'  
भेद्यामि त्वं यमाभिं' त्यजति न धृतधीरेण नूनं रहामि ॥ ६ ॥  
पुत्रप्रोत्थाग्रहेवालं कलयति नवृत्ती सिंहसार्व करेणु-  
याहापत्यं हलार्थी" प्रमुदितद्वया व्याघ्रपातं पुरंगी" ।  
दुराहृद्विषगादादिगलद्विकलध्यातजालास्वर्दीया-  
दित्थं ध्यानायधानादजनियत मिथां जंतवाऽग्नी वनेऽपि ॥ ७ ॥  
आनेदम्यंदिपिद्वृमनजटालितं लोचने निःप्रकंषे  
यद्व्याने भावनेयः कथमपि ममता रंधयाहातिरालं ।

- १ शामन । २ उदागाय कथं न भवत्यपि तु भवत्येव । ३ शरीरी ।  
४ शिरी । ५ श्वे । ६ र्पः । ७ अशान्तदुर्वीरः । ८ मनुमित्रयोः ।  
९ कुर्वण । १० नेत्राणि । ११ प्रेयः । १२ हे गुरुं । १३ दिगाकाशोपवनि ।  
१४ प्रभुगति । १५ जलानि । १६ मुचः । १७ हे मेघ । १८ भूर्तनिःप्रानिः  
अहनि । १९ ममर्थाणि । २० अगन्धवर्तमानि । २१ अगन्धवर्तमानि ।  
२२ हस्तिनी । २३ शीघ्री । २४ हरिणी



साधन्मात्रेऽपि काले द्रुतधुगिव भवेद् ध्यानमुच्चैरधानां<sup>१</sup>  
ध्वंसायोर्वीधराणां<sup>२</sup> ज्वलद्बलतर्यां यन्नसंपातजन्मां ॥ १७ ॥

विष्वक्संस्थानदेहे<sup>३</sup> गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः संहृत्के  
सर्वस्मिन्नार्त्तरीद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः ।

उत्कृष्टं धर्ममुक्तं यतिषु सुरपशुभ्वभिर्षदायलानां<sup>४</sup>  
मर्त्येष्वन्येषु सेद्वे दृशि<sup>५</sup> निखिलाविदध्याप्यनुत्कृष्टमाहुः ॥ १८ ॥

आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधायाद्यसंहत्युपेते -  
विज्ञेयं तत्रयं स्यादितरदपि नरे क्वाऽपि कालाद्यपेक्षम् ।

कोऽर्धाशो मातुमेतां परणतिमितरां कर्तुमानंत्यकृते-  
स्तत्तद्वाह्यांतरंगाभयविषयशब्दशब्दभूयोयताराम् ॥ १९ ॥

नाऽऽशास्ते प्रीतिमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं  
न द्वेषोऽनिष्टसंगे न च कलुषमतिर्वाण्यभावाभिलाषी ।

मायाऽसुयोगशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगद्य  
ग्रान्मुंचेशसमेततत्पशुगतिकलई यः सैतयायास्तु यः सः ॥ २० ॥

येषां हिंसा न सत्ये कश्चिदपि यच्चसां येषु नाऽमत्यभावो  
येषां चित्तं न चित्ते पर्यति<sup>६</sup> निजके येषु रक्षा न चांगे ।

ध्यानाद्ये रौद्रसंज्ञानुपरतमतयः भवन्नरेशाविदूरी-  
द्रोषद्वेषप्रमोषासंहृदिधिविधुराः प्रीतये संतु ते यः ॥ २१ ॥

१ धर्मशुभ्रभावं । २ पातानां । ३ पराजानां । ४ भास्वर-  
मिह्यवरकोदेति अत्र । ५ दैवेन्द्रिज्जोदृत अभिप्रेत्यर्थं । ६ शरीरवदे ।  
७ मरणं । ८ मारयः । ९ लुप्तकः । १० भवेत्तु । ११ दृश्ये गति ।  
१२ वज्रहृत्तमनागन्धनागने । कनकादे । १३ यामयदुर्गं ममयः पूर्वोक्तेरी-  
तावद्विदुद्वेष्टापीडितोपद्रोहिनश्चावकाशं प्रयत्नं शुद्धं भागीत्यर्थः । १४  
नेष्टुर्न । १५ दृश्येत्यत्र । १६ भवत्यर्थे । १७ मरुद्वेषोऽनिरागः । १८ शोचते ।

याथात्म्यं धर्ममादुस्तदिह बहुधियो यस्तुजातेषु सर्व  
 दर्शमर्षाभिपंगमविकलमनसा स्यात्सदाहंमेवाम् ।  
 तदुध्यानाधीनधीनाः प्रतिगमयिममोन्मोहमूलं लुनन्ति  
 तस्मिन्पंचायपोधीपारिकलितकले 'काऽपि तस्ये कृताऽऽस्थो २२  
 आह्ला सत्यज्ञवार्णा निजवृजिमजबोपायचिता त्रिपायः  
 कर्मद्विको' विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽऽहंवि संस्थानमुक्तम् ।  
 तत्राऽयं स्याद्विवेको विषय इह ततो योगिनः स्युः कदाचिन्  
 नाकर्त्तानेवनीलोत्पलवनसुददः कर्मपाशच्छिदो वा ॥ २३ ॥  
 धर्मध्यानप्रबंधाभ्यसनसमधिकारैर्धर्मलब्धावतारे  
 प्राणायामोर्भ्यबाधाऽऽसनअवद्वयस्यामविज्ञानभारे ।  
 द्विः भोतोपादिसर्वाऽऽशयशमनमभासप्रमेसारपादं  
 निद्वधित्तप्रचारेर्भयति कृतमतिः शुक्लयोगोवचारे' ॥ २४ ॥  
 नानाभायः वृथकर्त्तं प्रयत्नविषयालोकनाको वितर्कः  
 संक्रांतिस्तेन कुर्वन् कमविधियज्ञतो वाचि वाच्ये श्रियोग्याम् ।  
 यीचारो द्रव्य आयः रिधतमणुममलः पर्यये वा द्विमार्गः  
 कर्मोरीणामरीणां स्थितिमनुतनुते न्यर्गयो मोक्षमथ ॥ २५ ॥  
 गुप्तपाटीः कर्मकक्षोप्रभिषतदुपचितं कर्म सर्वं विधुम्ये-  
 खेकत्येहाविचारावृजिर्नपिजयिनी रीधिका ग्राहमानः ।

१ अनवगतयोऽर्थ पाठ । २ धर्मध्यानावलम्बना । ३ अत्रावकाशमत्र  
 विनाशान् स्थिरीभूनादियर्थे । ४ वेदना बोधना ममाद्वारः वेदकचोटी तदा  
 परवर्तिता कृता कला पर्यालो अथ तस्मिन् । ५ कृतमद्वयता । ६ अत्र वा  
 इदं विदिनपदार्थेनत्वम मन् यो प्रतिगमयिष्यो इति तद्विपाकविषये  
 तत्त्वतमर्षनाय तर्कजप्रमाचक्षोऽन्तरा भूमिगमन्यद्वारः अर्धेन प्रमाद्वयार्थ-  
 रवादावविषयः । ७ अनुभव । ८ अस्मत्प्रमावर्तिनध्यायप्रवर्त्ते । ९ कृतावृत्तिवि ।

एकं वाऽऽश्रित्य योगं कमणुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा  
शुक्लं वाऽपि द्वितीये भवति जिनपतिर्धातव्यध्वंसनेन ॥ २६ ॥  
मा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् यपुरतिशयवज्रातुरास्यामिरामं  
श्रीर्वाङ्माऽभ्यन्तरी चाद्भुतायिभवमथा सर्वसत्त्वप्रभोदः ।  
आनन्दोऽन्यानपेक्षो दुरवधिघटनाद्वेद्यमस्ति स्यकायं  
नो ते सार्वस्य तम्याः प्रभु न च नियमोऽधेऽपि वाऽन्येषु यस्मात्प्र  
यत्नाऽन्येऽप्यंगभाजो न हि सदमि बुभुक्षादिबाधास्तथार्मा  
तद्बाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्यमस्मादनाय ।  
सामान्याऽऽहारहेतावपि मदमिमत्तं स्थापितांगेऽन्यथाऽस्ति  
देवे स्यादन्यथाऽतो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्ती हि मुक्तिः २८  
देवार्थानि सुर्धानाप्यनुपहतमतिको बलास्त्वत्पदस्य  
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवत्सु ।

१. १९५६ । २. ज्ञानदानदानलाभभागोपभोगवार्थसम्यक्प्रचारि-

[illegible]

स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीबयोपिज्जनानां ।

दीधित्यस्याविशेषे यदपि न नरयच्छुभ्रमुद्यैर्मजते ॥ २९ ॥

पौष्पी वृष्टिः प्रभाणां धलयमसदृशं हुंदुमीनां निनाद-

स्त्रीणि ह्यब्राण्यशोको एतदुभयतधामराणां प्रचारः ।

उक्तिंश्चिन्नाभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्था

लक्ष्मीरन्याऽपि शकः परिचरति मुदा देवमाघाज्यमेतत् ॥ ३० ॥

ध्येयं स्मार्य न किञ्चिद्भगवति नितिललाध्यक्षपक्षायसेये

तत्रैतद्व्यानमीहाऽसमकलुषतया तत्समत्वार्थं याऽपि ।

तत्साम्ये तद्व्यपायावदसमयसमावेक्षणा वा मनीषा

नो चेदात्मप्रदेशव्यसनसमसनारंभणो वा प्रयत्नः ॥ ३१ ॥

आयुष्यंतमुहूर्त्तं सति समयचतुष्कावधावेव काले

कृत्वा दंडं कपाटं प्रतरमथ जगत्पूरणं चाप्यसौ स्वम् ।

हंक्षिप्याप्यतिकर्माहितसदुदाहृतः पूर्वदेहप्रमाणः

सूक्ष्मेकांगोऽन्ययोगप्रविगमेकरणात्स्यात्सयांगी तृतीये ॥ ३२ ॥

१ पापविमलस्य विशेषभावेऽपि सप्तमं नरकं न यांतीति भावः । २ गार्हस्त्यशौ-  
चविधानां । ३ अत्र ह्यस्वेवमाश्रान्मूलं “मन्त्रैर्योनां प्रदेन विमुनियनियुता  
सम्भरा कीर्त्तयेयम्” इत्युक्तसम्भरालक्षणत्वात् “उत्राणि श्रीम्यशोको” इति पाठश्च  
वृत्तदोषः । ४ वाणी । ५ मलविना । ६ हातव्ये । ७ विरमस्थितिर्भगवत् । ८ अथा-  
तिवर्मणां समस्थितिं कर्तुं । ९ विभेदः । १० आत्मा जीवस्त्वय्य प्रदेशा जीवनेष्व-  
स्वभावनामगोत्रोदनीयपरीक्षाभासोदां व्यगने ईशादिरूपनवा क्षेत्रे समगने श्लोक-  
प्रतरक्षेणाशौचं तयोसारंभणं यत्नः, न हि ह्युदनिधयनयपेक्षया ह्यननंदाद्यनेह-  
स्वभावस्य परमात्मनो ध्यानरूपेणाऽस्ति परं प्रमादपि ई प्रयत्नादिप्रमाणैः परमा-  
त्मनि तथा तथा स्वाभाविकी परिणति परिशेषेण तद्व्यापकोपकोपदेवः ह्यन इति  
तात्पर्यम् । ११ विनाशः ।

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुती त्यक्तसंगेऽप्ययोगे  
 क्षीणोल्हाधे कियौधे समधियति यथाख्यातचारित्रमत्र ।  
 प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत्प्रांतशुक्लोपपले  
 मोक्षो योगिन्यवश्यं यदविकलविधी कारणे को विलंबः ॥ ३३ ॥  
 सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिभेसमां माहुरेतच्चरित्रं  
 पात्रं तन्मुल्यवृत्त्या भवति खलु यती योगिनोऽप्यः परो न ।  
 अस्याहृत्यभ्युपेतो स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपंच  
 उत्कृष्टायाः परोऽस्याः अपि अगति यतो नास्ति रत्नत्रयात्तेः ३४  
 ऊर्ध्वं ब्रज्यात्मकत्वांदयमानिलाशिसावत्ततः प्रोर्ध्वमीत्ते  
 नो याने चाऽयमास्ति अगति हि गगने यन्न धर्माऽस्तिकायः ।  
 प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षाऽवमविगमनाश्चैव जीवैरिहीनः  
 संसारोऽनंतभावाश्च च जननविधिस्तेष्वपूर्वेष्वहेतोः ॥ ३५ ॥  
 ओलोकोतात्ममारात्ममतति समये नायमैकेन मुक्ता-  
 वस्योत्कर्षाद्विशुद्धेर्धनविवरतया किंचिद्भूनाकृतिः स्तैः ।  
 एनः संवृद्धिर्यध्वुपरमकरणाद् ध्यानमेतद्य मुक्त-  
 माये द्वे तत्र पूर्वधृतिनि जिनपतायुत्तरे द्वे च शुक्ले ॥ ३६ ॥  
 म्ये गेता नो यियासा तद्य न च गेतिमान्स्वयमानप्रदेशः  
 सेवाधं व्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः ।

१ सम्मगधिर्न गच्छति आत्मस्वभावावस्थोपेक्षात्क्षणं यथाख्यातचारित्र्यं ।  
 २ निषेधेन । ३ व्याकृतिः । ४ अव्योमितितान् । ५ ऊर्ध्वगमनस्वभावभावात् । ६ ऊर्ध्व-  
 शासमाधिन शक्तिमदनं । ७ यानि । ८ तिष्ठति । ९ अत्रोऽऽहमिति स्वर्गः । १० संग-  
 च्छेदः । ११ यद्यपि हताशान्मिच्छा न तथाऽऽहृतिश्चनवापि प्रतिदिष्टं भवति सात्म्य-  
 सहलेशमुक्तदोषां । १२ गमनशीलः, परे न यातुमिच्छा मुक्तात्मना स्वभावोदेव ।  
 गमनस्वभावप्रतिदेशो बुद्धिदिति न क्वचिद्विरोधः । १३ यः किल गतिमान् भवति स  
 स्वयमव्यवस्थानप्रदेशः, गतिमन्वेऽपि मुक्तस्य प्रदेशकत्वस्योपाद् द्वितीयो न ।

संसारतीतमूर्तिर्न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन्  
 नो केषां चित्रमेतद्भिभवपदपरोऽप्यर्च्यसे यन्मुनीन्द्रैः ॥ ३७ ॥  
 सौख्यं मोहक्षयेणावृत्तियुगममनाद् दृष्टिबोधायपि स्तो  
 यीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गमविममहतिधायुरुच्छेदनेन ।  
 नामोच्छित्तेरभूतां स्थितिसमयकुलाऽसंगमो गोप्रनाशा-  
 द्वयोच्छेदादगोपेन्द्रियजनितसुखातंकसंपर्कहानिः ॥ ३८ ॥  
 दृष्टिज्ञानं गुणी द्वाविह विनिगदितायात्मनि प्राप्ततत्त्वै-  
 स्तावेव प्राप्तवन्तौ विविधविधितयोत्कर्षभावादुत्थम् ।  
 अगौतर्भावमथ प्रकृतगुणयुगे धार्तिं कश्चिन्न वर्गः  
 सौख्यभद्राद्यगाहाऽगुरुलघुगुणताऽवाध्यतायाविरोधः ॥ ३९ ॥  
 मुक्तौ नापूर्यमाणं किमपि सुकृतिभिद्येतितामात्मद्वय-  
 धार्तिं प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनया केवलज्ञानभाजः ।  
 सूक्ष्मास्तेषां जिनेन्द्रोदितमतमद्वितज्ञानभाध्नाज्यसंप-  
 त्संपन्नाः सर्वमन्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ॥ ४० ॥  
 इति श्रीसोमदेवाचार्यप्रणीताऽध्यात्मतरंगिणी समाप्ता ।

१ यो हि सकलार्थभ्यापनशीलः सैव सर्वगत इत्यनुमानविरोधधेतवेदमनुमार्च-  
 निद्रः सर्वगतः सकलार्थभ्यापिकृतिश्चासम्भक्तार्थभ्यापिकृतिर्वाच्यं तस्मात्सर्व-  
 गत इति न न ज्ञानरूपेणैव ज्ञेयः सकलार्थभ्यापित्वप्रतिज्ञायात्मप्रदेशेनोत्पन्नं  
 "आत्मा ज्ञानप्रमाणो ज्ञाने देयप्रमाणमुच्यते । देये लोकाकारो तस्माज्ज्ञानं हि सर्व-  
 गतम् ॥" इत्यस्य कवेन निरिच्छार्थभ्यापिनोऽपि न मुक्तात्मनः सर्वगतत्वमिति विरोधा-  
 भावार्थः । २ सर्वयुगात् तदेव सर्वं स्वभावो वाच्यसन्निधोऽनन्तर कथं? वद्गुणा  
 हनिषुद्विधात्त्वार्थरूपं शुद्धसर्वार्थजनयापेक्षया किञ्च हति न विरोधः ॥  
 ३ उक्तौ । ४ नानाकार्यप्रपञ्चः । ५ यच्छ्रुतिः । ६ अर्च्ये, अर्च्ये नवप्रमाण-  
 र्वाच्यं परव्यक्तिमित्यर्थः । ७ जिनभावमिदं नमस्काराद्यध्यात्मराज्यादिभिर्बोध-  
 र्वाच्यमप्येवम् । सर्वज्ञाया एवेत्यलविपिनं पद्मपदस्त्वमुदे हर्षव्यं ॥

नमः श्रीबीतरागाय जिनाय ।

फानकेसरिस्तोत्रम् ॥

सटीकं

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता  
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ।

इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्  
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥ १ ॥

टीका—श्रीवर्द्धमानमानम्य संसारार्णवतारणम् ।  
बृहत्पंचनमस्कारपदं विव्रियतेऽधुना ॥

जिनानां देशतः कर्मान्मूलकानां गणधरदेवादीनामिन्द्र स्यामिन् ! तव  
गुणसंस्तुतिर्गुणानां केवलज्ञानादीनां समीचीना मनोवाक्यायविशुद्धिपूर्विका  
स्तुतिर्मनागपि स्तोकाऽपि प्रारब्धा कृता भवति संपद्यते । किं, कारणं । कथंभूतं,  
परमुत्कृष्टं । किमर्थं, प्रहतये विनाशाय । केषामखिलकर्मणामिति हेतोर्व्यव-  
सितोयोगं कृतवती । काऽसौ, मतिः । कस्य, मम स्तोतुस्ततस्तस्मान्मतेर्व्यवसा-  
यात् अहमत्यादरात् भक्तिप्रवर्णासंविधास्ये करिष्ये । का, स्तुतिः । कथंभूतां,  
स्फुटार्थनयपेशलां स्फुटो व्यक्तः संशयादिरहितोऽर्थो येषां ते च ते नयाश्च  
सौः पेशलां मनोशां । कथंभूत जिनेन्द्र, सुगत शोभनं गतं शानं यस्य ।  
पृथ्वीच्छन्दोलक्षणं वृत्तरत्नाकरे यथा “ जसौ जसयलाव्रमुग्रदयातिश्च  
पृथ्वी गुरुः ” इति ॥ १ ॥

तामेव स्तुतिं विदधानो मतिरित्यायाहः—

मतिः श्रुतमथावधि स हर्जं प्रमाणं हि ते

ततः स्वयमबोधि मोक्षपदवीं स्वयंभूर्भवान् ।

न चैतदिह दिव्यचक्षुरधुनेक्ष्यतेऽस्मादृशां

यथा सुकृतकर्मणां सकलराज्यलक्ष्म्यादयः ॥ २ ॥

मतिरित्यादि । मतिश्च श्रुतं च मतिश्रुतमथ तयाऽनन्तरं वाऽवविद्येतत्प्रमाणत्रयं ते तव सहर्जं राहोत्यर्चं हि स्फुटं ततः प्रमाणत्रयात् स्वयं परोपदेशमन्तरेण अबोधिं बुद्धवान् । कां, मोक्षपदवीं मोक्षस्य पदवीं मार्गः सम्यादर्शनायात्प्रकृतां, अतः स्वयंभूर्भवान् स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गं ज्ञात्वा अनुष्ठाय स्वानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयम्भूः । नन्विदं ज्ञानत्रयमिदानीमस्मदाक्षीनामपीह भविष्यतीति ततः कथं भगवतो विशिष्टो गुणः स्तुतः स्यादित्यत्राऽऽह, न चेत्यादि । न च नैवमेतदनंततोक्तं विशिष्टज्ञानत्रयमिष्यते दृश्यते । कथंभूतं, दिव्यचक्षुः चक्षुरिव चक्षुः पदार्थस्वरूपमकाशने निमित्तत्वात् दिव्यं सामान्यमाणिनामस्तीभवित्वात् तच्च तच्चक्षुष्येह क्षेत्रेऽधुनेदानीमस्मादृशां छद्मस्थानी । अत्रैवं दृष्टान्तमाह— यथेत्यादि, अयमर्थः— सुकृतकर्मणां विशिष्टपुण्यवतां चकवर्त्यादीनां एवमन्धिन्यः सकलराज्यलक्ष्म्यादयो यथात्रेदानीमस्मादृशां नेष्यन्ते तथा तदपि ॥ २ ॥

भगवतः कचिद्भागदेवसद्भावे परमेष्ठिता न विरुद्ध्यत इत्याह,—

मतेषु परिरज्यसे निरुपमे च सौम्ये स्फुटा

विभेक्ष्यपि च संयुतेरनुभूतां यथं द्रक्ष्यपि ।

कदाचिद्दृष्ट्यां दृष्टो विगतचित्तकोऽप्यभस्ता

तथाऽपि गुरुरित्यसे प्रियुयमैकवन्पुञ्जिनः ॥ ३ ॥

मतेष्वित्यादि । मतेष्वरिंसादिषु परिसमन्ताद्रज्यसेऽनुरागे कगोने, निरुपमे शोषमातिजान्ते च सौम्ये मोक्षसुखे स्फुटाऽभिलाषः, विभेक्ष्यपि



च भयमुपगच्छस्यपि च संसृतेः संसारात् असुमुतां प्राणिनां यथे हिंसां  
 देश्यपि प्रतिषेधस्यपि; कदाचित्कषायेन्द्रियकालोऽद्योदयः न दयाऽद्या  
 हिंसा तस्या उद्य उत्पादो यत्र । किंविशिष्टोऽपि, विगताचित्तकोऽपि विगतं  
 विनष्टं चित्तं भावरूपं यस्य ततो अमनस्काः केवलिन इति वचनात्; अंजसा  
 परमार्थेन तथाऽपि रागलोभद्वेषदुष्टप्रकारेणापि गुरुः परमात्मा इष्यसे सः ।  
 किंविशिष्टस्तु जिनोऽशेषकर्मोन्मूलकः । पुनरपि किंविशिष्टस्त्रिभुवनेकबन्धुः ॥ ३६ ॥  
 कथंभूतस्य भवतः केवलमभूदित्याह;—

तपः परमुपाभितस्य भवतोऽमयत्केवलं

समस्तविषयं निरक्षमपुनश्च्युति स्वात्मजम् ।

निरावरणमक्रमं व्यतिकरावपेतात्मकं

तदेव पुरुषार्थसारमभिसम्मतं योगिनाम् ॥ ४ ॥

तप इत्यादि,—भवतो जिनस्याभवत्संजातं । किं तत्केवलं केवलज्ञानं,  
 कथंभूतस्योपाभितस्य सेवितवत् । किं ततपः । किंभूतं, परमुत्कृष्टमेकरवधि-  
 तर्कशुक्लप्यानलक्षणं । किंविशिष्टं, केवलं समस्तविषयं समस्तं असिला विषया  
 यस्मिन्नात्, निरक्षमशेष्य इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्ते निरक्षमतीन्द्रियमित्यर्थः,  
 अपुनश्च्युति न विषये पुन. पश्चात् च्युतिर्विनाशो यस्य, सारमत्रं स्वस्य  
 जीवस्यात्मा द्रष्टृणावरणस्वभावस्तस्माज्जातमत एव निरावरणं, अक्रमं  
 युगपत्सर्वार्थमाह निरक्षान्तं, व्यतिकरावपेतात्मकं शुक्लादेः पीतादितपा  
 ग्रहणं व्यनिकरास्तस्माद्वेत् आत्मस्वभावो यस्य । कथेन पुरुषार्थं इत्याह  
 तदेवेत्यादि—तदेव केवलज्ञानमेव पुरुषार्थोऽर्थो धर्मादीनां मध्ये तारं प्रधान-  
 भूतं अभिसम्मतं भिक्षुणाम् ॥ ४ ॥

ननु यदि समुत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान्कथं तदेवास्ति तदेव च नास्ती-  
 त्यादि तदीयवचोविरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्नाह;—

परस्परविरोधश्रुतिविषमद्वन्तात्माहुलं

इयमजनसुखं तत्र निरर्थकं सागनम् ।

तथापि जिन ! सम्मतं सुविदुषां न चान्यद्भुतं

‘ भवन्ति हि महात्मनां दुरुदितान्यपि ख्यातये ’ ॥ ५ ॥

परस्परविरोधेभ्योऽदिः—हे जिन ! तव शासनं वचनं, कथंभूतं, निरर्थकं सदेवासदेव चेत्याद्येकान्तरूपादर्शाभिधेयाभिष्क्रान्तं परस्परविरोधवदिविध-  
भंगशास्त्राकुलं परस्परमन्योन्यं विरोधः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणः स येषां  
वियते ते च ते विविधमंगाभ्यास्तिवनास्तित्वादिविकल्प्यास्त एव शास्त्राभ्या-  
राकुलमाकीर्णं, पृथग्जनसुदुर्गमं पृथग्जना हेयोपादेयविवेकदान्यददयास्तेः  
सुदुर्गमं सुषु दुरवबोधे तथाप्येवंविधनिरर्थकत्वप्रकारेण स्थितमपि तव  
शासनं सम्मतमभिप्रेत । केषां, सुविदुषां शोभनपण्डितानां । न च नैवात्य-  
द्भुतमाश्चर्यमूनमेतत्कुत इत्याह, भवन्ति हीःपादिना— हि परमाद्भवन्ति  
संवद्यन्ते महात्मनां सातिशयज्ञानवतां दुरुदितान्यपि परस्परविरुद्धवर्था-  
स्यपि ख्यातये प्रसिद्धये प्रमाणोपपन्नत्वात्; अत्रार्थान्तरन्यासादह्यारः  
तदुक्तं हि यथा—उक्तिरर्थांतरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोरिति ॥ ५ ॥

इदानीं सपरिमहत्त्वनिःपरमिहत्त्वयोर्भगवत्परिवेधं दर्शयन्नाह,—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहद्वनर्ष्यसिंहासनं

तथाऽऽनपनिवारणप्रथमधोलसद्यामरम् ।

यत् न च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता

न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथार्द्रपि संगच्छते ॥ ६ ॥

सुरेन्द्रेत्यादि—सुरेन्द्रैः परिकल्पितं रचितं । किं तत्, बृहद्वनर्ष्यसिंहासनं  
बृहन्महद्वनर्ष्यममूर्ष्यं तच्च तत्सिंहासनं तथा तेनैव प्रकारेणानपनिवारणप्रथ-  
मध्वजं, अथानन्तरमुत्तमस्तुरध्वजम् अनुचरितं, यत् न च भुवनत्रयं,  
“ आशाधीनं जगद्वयं ” निरुपमा चोदमाहिता निःसंगता निःपरिहृता  
न संगतं न युक्तं विरुद्धव्यभिचमन्तरोक्तं सिंहासनादिदिभूतिसम्बन्धं निः-

गतत्वं च तथाऽपि विरुद्धप्रकारेणापि त्वयि भगवति सङ्गच्छते घटते त्वन्मा-  
हात्म्यस्य तादृशत्वात् ॥ ६ ॥

तथेदं विरुद्धमपि भगवति संगच्छत इत्याह;—

त्वमिन्द्रियविनिग्रहप्रवणनिष्ठुरं भापसे  
तपस्यपि यातयस्यनयदुष्करे संश्रितान् ।

अनन्यपरिदृष्टया पटसुकायसंरक्षया

स्वनुग्रहपरोऽप्यहो ! त्रिभुवनात्मनां नापरो ॥ ७ ॥

त्वमित्यादि, —त्वं भगवन् ! भापसे निष्ठुरमिन्द्रियविषयप्रवृत्तिनिरोधकं ।  
कथंभूतं, इन्द्रियविनिग्रहप्रवणं इन्द्रियाणां विशेषेण निग्रहः स्वविषये प्रवृत्ति-  
निरोधस्तत्र प्रवणं दक्षं न केवलं भापसे किन्तु 'यातयसि क्लेशयसि यत्न-  
वतो करोषि " यती प्रयत्ने " घातोर्ण्यन्ते रूपं " क, तपसि, किंविशिष्टे,  
दुष्करे दुश्चरे । किंविशिष्टोऽनघः । कान्, संश्रितान् । कया, पटसुकायसंरक्षया  
पटायप्राणिदयया । कथंभूतयाऽनन्यपरिदृष्टयाऽन्येरीश्वरादिभिरप्रतीतया ।  
कथंभूतोऽपि, स्वनुग्रहपरोऽपि । केषां, त्रिभुवनात्मनां अहो भगवन् ! यत  
एव त्वं तेषामनुग्रहपरोऽत एव तद्भापसे, ईश्वरादिरपि कश्चित्तेषामनुग्रहपरो  
मविष्यतीत्याह— नापरो न द्वितीयस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यथेश्वरस्तुष्ट स्तुतिपद्येषु गुण सपादयति तद्विपरीतेषु च दुःखं न स  
भगवान्तस्य तोषरोषयोरभावेऽपि तत्सपादनसामर्थ्यसंभवादिति दर्शयन्नाह,—

कदास्यनुपमं सुगं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि

क्षिपस्यकुपिताऽपि च भूयमसूयकान्गुगंती ।

न श्वेद ! परमंश्रिता तव विरुद्धयते यज्ञयान्

न कुप्यन्ति न तुष्यन्ति प्रकृतिमाभितो गम्यमान् ॥ ८ ॥

इदमीत्यादि—इति । किं तत्, कुंभं कथंभूतमनुपमं । केषु, स्तुतिपद्येषु  
स्वजनतत्त्वेषु । कथंभूतोऽप्यनुष्यन्नप्यहमेभिः स्तुत इति चिन्ते प्रसन्निमकुर्व-

अदि, तथाऽबुधितोऽपि च बोधरहितोऽपि क्षिप्तसि प्रेरयसि भुवमवश्य-  
भावेन । इ, दुर्मतो । काष्ण्ण्यकान् स्वदूणाऽहरिणून्, तर्हि निग्रहानुग्रहौ  
कुर्वन्मत्तव परमेष्ठिनाविरोधो न भविष्यतीत्यब्राह्म न चेत्यादि;—न चेत् ।  
परमेष्ठिना विरूप्यते । कुतो, यद्यस्माद्ब्रह्म कुप्यति न तुप्यति प्रकृतिं  
स्वभावमाश्रितः, किंविशिष्टा, मध्यमा मध्यस्वरूपामिति ॥ ८ ॥

अधुना सयोगिभेदन्यवस्थायां भगवतोऽनन्यमाधारणान् धर्मान्  
कथयन्नाह;—

परिक्षपितकर्मणस्तथ न जातु रागादयो

न चेन्द्रियविबुधस्यो न च मनस्कृता व्यावृत्तिः ।

तथाऽपि सकलं जगद्युगपदंजसा वेत्ति च

प्रपश्यति च केवलाम्युदितदिव्यसद्यशुभा ॥ ९ ॥

परिक्षपितेत्यादि,—परि समन्तात् निःशेषतः क्षपितकर्मणो दिनाशित-  
प्रातिकर्मचतुष्टयस्य तत्र जिनेन्द्रस्य न जातु कदाचिदपि रागादयो  
नाऽर्जन्निवविबुधस्य इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां विशिष्टबुधस्यो यथा स्वसमर्थ-  
प्रत्यक्षाद्वारा निमेषोन्मेषादयो वा न च मनस्कृता मनःपूर्विका व्यावृत्ति-  
भेदा, तथार्जन्निद्रियमनोव्यापारभावप्रकारेणापि ज्ञानावरणादिप्रक्षयप्रभव-  
ज्ञानेन समस्तं जगद्युगपदेकहेतुया वेत्ति च जानास्येव । न केवलं वेत्त्येव  
किन्तु प्रपश्यति । केन कुत्रा, केवत्येवादि—केवलशब्देन केवलज्ञानं  
केवलदर्शनं च सूच्यते तदेवाभ्युदिते अभि आभिमुख्येन सकलार्थसाक्षा-  
त्कारितक्षणेनोदिते बाहुर्भूते दिव्यमन्यजनासंभवि सत्समीचीनं चतु-  
स्तेनेति ॥ ९ ॥

तथा कर्मप्रक्षयाद्यद्भगवतः सम्पन्नं तद्दर्शयन्नाह,—

क्षयाद्य रतिरागमोदमयकारिणी कर्मणां

कपायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविधोदयः ।



मादनुपलंभाद्गवति, अतोऽप्येवविषयवचनादपि हेतोर्न केवलमनन्तरोक-  
गुणोपेतत्वात् भगवन् । इन्द्राभिपूज्यविशिष्टज्ञानेन वा संवत्सरमेष्टितायाः  
परमात्मतायाः पदं स्थानं स्वमेव नान्य इति ॥ ११ ॥

ननु वितथकारणं मे नास्तीति भवतीत्युक्तो निधितमिति भगवत्पर्यनु-  
योगे सति आचार्यः आह;—

न दुग्ध इति गम्यसे सकलसंगसंन्यामतो

न चाऽपि तत्र मूढता विगतदोषयाम्यद्भवान् ।

अनेकविधरक्षणादसुभृता न च द्वेषिता

निराशुषतयाऽपि च व्यपगतं तथा ते भयम् ॥ १२ ॥

न दुग्ध इत्यादि,—दुग्धः परिग्रहेष्वासक्त इत्येव न गम्यसे न प्रती-  
यसे । कुतस्तत्र कारणमाह—सकलसङ्गसंन्यासतः समस्तपरिग्रहपरित्या-  
गान्, न चाऽपि तत्र मूढताऽप्यज्ञानताऽपि । कुतो, विगतदोषवाक् यद्भवान्  
विगता विनष्टा दोषाः पूर्वापरविरोधादयो यस्यास्तादृशी वाक् यस्यासौ  
विगतदोषवाक् यस्यास्तात्कारणात् भवान् भगवान्, न च नैव द्वेषिता  
क्रोधिताऽनेकविधरक्षणात् अनेकप्रकारेण व्रतसमितिगुणवादिदक्षणेन  
पालनान् । केषामसुभृता प्राणिनां, तथा भयमपि साध्वसमपि व्यपगतं नष्टं ।  
कथा, निराशुषतया निरस्तसमस्तग्रहरणतया चेति ॥ १२ ॥

अत्र विगतदोषवाक्त्वं मे कथं सिद्धमिति भगवदाशङ्कौ स्तोतुः प्रज्ञाति-  
क्षयपरीक्षार्थं प्रवृत्तामिव निराकुर्वन्नाह;—

यदि त्वमपि भाषसे वितथमेयमानोऽपि सन्

परेषु गिन का कथा प्रकृतिलुप्थसुग्धादिषु ।

न चाऽप्यकृतकार्मिका यथनसंहतिर्हस्यते

पुनर्जननमप्यहो ! न हि विरुध्यते पुक्तिभिः ॥ १३ ॥

यदीत्यादि;—यदि त्वमपि न केवलमाहो जन इत्यपिशब्दार्थः,  
विनयमेवासत्यमेव भाषसे वदसि । कथंभूतोऽप्याप्तोऽपि सन् वर्तितरागत्वसर्वश-

त्वादिगुणोपेतोऽपि सञ्ज्ञेयं प्रागुक्तप्रकारेण तदा परेष्वप्यहम् हे जिन ! का  
 कथा सत्याभिधानेन का वार्ता ! किंविशिष्टेषु, प्रकृतितुल्यमुग्धादिषु प्रकृत्या  
 समोक्षेन लुब्धा मुग्धाभादिशब्देन भीतद्विष्टादिपरिमहः । अत्राऽऽह श्रीमो-  
 सङ्कः, आगमलक्षणाया वचनसहोत्पत्त्येव तया केनचित्करणसंभवात्-  
 गवतो विगतद्वेषवाक्यं ततः कथं सिद्धमिति, तद्व्युक्तमित्याह-न चेत्पादिना ।  
 न च हृदयेते प्रमाणतः प्रतीयते । काऽसौ, वचनसहतिः । कथंभूताऽतुतका-  
 त्तिका अपोहयेयाऽपि लौकिकवचनसंज्ञेतेरिव वेदिव्या अपि तस्याभ्यासा-  
 दिध्यापारयतया तथा कृतकारमत्वोपपत्तेः । एतदेवाह पुनरित्यादिना- वि-  
 यस्याप्य विरुद्धपत्तेः । किं पुनर्जननमापि न केवलमभिपत्तिः किन्तु मुक्तिमि-  
 त्यत्र विरुद्धपत्ते इति ॥ १३ ॥

एतेन दर्शयन्नाहः—

सजन्ममरणपरिगोचररणादिनामभूते-

एनकवद्वर्गोहतिप्रतिनियामसन्दर्शनात् ।

कल्याण्युत्पन्नवृत्तिसिधितुसिद्ध्यात्मना

भुतेषा मनुगृह्यतपुन्यकर्तुंकेय भुतिः ॥ १४ ॥

सजन्मेत्यादि । सजन्ममरणपर्यवध तद्वर्गोचरं च तद्व्यापारं च साध्यादि-  
 र्देवा मनीषादानी तेषां नाम संज्ञा ताव भूतेः अवगतात् पुन्यकर्तुंकेय । का,  
 कल्याण्युत्पत्त्या यदेत्यादी नाम भूतेन तन्पुन्यकर्तुंकेय इति यथा मनुगृह्यादि तथा  
 चय तस्मान्नयति । तथा त्रैलोक्यसहस्रतिप्रतिनियामसंदर्शनात् भूतेषां च  
 तेषां यदपि सुखमतिदुःखानि च तेषां संवृत्तिरनयाः प्रतिनियामः कर्मरचना  
 तस्य सन्दर्शनात् । न केवलमेतन्मात्रमुदघातसा तन्पूर्विका किन्तु कल्या-  
 ण्युत्पन्नवृत्तिसिधितुसिद्ध्यात्मना भुतेः स्वर्गादिकार्येण च पुन्याच्च तेषां  
 ये वृत्तिसिद्धिर्ना तेषां ये हेतुभूता आत्मनः क्षेत्र कल्याणः पूर्वतयावकाश  
 स्वर्गाया यद्वर्गोचरं च पुनर्दर्शनात् तेषां च भूतेर्द्वयतिरोक्तिः ॥ १४ ॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्वादिगुणोपेतस्वमागमप्रणेतृत्वं च सिद्धयेत्, न चासौ सिद्धस्त्वमाणाभावादिति चार्वाकः, तमेव निराकुर्वन्नाह,—

स्मृतिश्च परजन्मनः स्फुटमिदृश्यते कस्यपि-

त्तथातथचनान्तरात्मस्फुटलोकवादादपि ।

न चाऽऽप्यमत उद्भूयो न च मनो निमूलात्क्षयः

कथं हि परलोकिनामसुभूतामसत्तां द्यते ॥ १५ ॥

स्मृतिधेत्यादि—परजन्मनः पूर्वभवस्य स्मृतिः स्मरणं च स्फुटमसंशयं कस्यचित्प्राणिन इह लोके ईक्ष्यते अतः । कथं, स्फुटमसत्ता वास्तित्यर्थं चार्वाकैरुच्यते उत्पादने तथा प्रसूतश्लोकवादादपि प्रसूतः प्रतिद्वः प्रसूतो वा ‘ पूर्वमेवंविधमेतैः सुकृतं कृतं येन सुतेन तिष्ठन्ति एतेष्व दुष्कृतं कृतं येन दुःसेन द्रिश्यन्ति ’ इत्यादिरूपरतवाऽपि परजन्म नेष्यतेऽतः कथं तेषामसत्तां द्यते प्रतिपाद्यते वा । केषामसुभूतां परलोकिनामतीतभवादागमानी भावि भवं गमिष्यतां तथा तेनैव प्रकारेणाऽऽतथचनान्तरात् ‘ अविशो अणाह-  
निर्हणो ’ इत्याद्यागमादपि तेषां परजन्मेष्यतेऽतः कथमसत्तां द्यते । यद्-  
प्युच्यते चार्वाकैः कायाकारपणितेभ्यः पृथिव्यादिभ्यश्चित्तन्यमसत्तुच्यते तस्य कियत्कालमवश्याय निर्मूलं प्रतीयत इति तद्वपुतमित्याह—अथेत्यादिना—  
न च सर्वथाऽसत् उद्भवः सारविषाणवत् न च मनो निमूलात् क्षयः पृथि-  
व्यादितत्त्ववत्, इध्वरूपतया सतः पर्यायरूपतया त्वसत्त्वेन नभ्योत्पाद-  
दिवासाभ्युदगमे भेदमनसिद्धिरिति ॥ १५ ॥

चेतन्यं चतुर्जां भूतानां कार्यं व्यदृश्यं चेति तदद्वयं निराकुर्वन्नाह,—

न चाऽऽप्यगदुदीयने न च सदेव वा द्यज्यते

सुराहमद्वयतया सितिकलापदैविद्वयवत् ।

कचिन्मृतकारण्यतार्थविडम्बनैः मेभ्यसे

कथं क्षितिजलादिमृदुल्ल इत्यद्वयेन वा ॥ १६ ॥



न चेत्यादि;—न चाऽसद्व्युत्पाद्यत उत्पाद्यते चेतन्यं, किंवा, सुराह  
मदवत् सुरा मयं तद्वद्वापि कारणानि विषोदकगुणवत्तयादीनि तेभ्यो  
यथाऽप्यन्तमसत्त्वेव मदो मदशक्तिरुत्पद्यते तथाभूतेभ्यश्चेतन्यमिति तर्हि  
सदेवाऽभिव्यज्यते तद्वित्यत्राह न चेत्यादिना—न च तथा सर्वथा सदेव  
वा व्यज्यते किंवा शिल्पिकलापवैचित्र्यवत्, न हि शिल्पिनो मयूरस्य कलाप-  
वैचित्र्यं सर्वथा सदभिव्यज्यते किन्तु कथंचित्तया चेतन्यमपि कथंचि-  
त्सदभिव्यज्यतां । तथा च जैनमतसिद्धिरेतेन देहगुणश्चेतन इति मतं  
प्रत्याख्यातं यस्मात्कचिन्मृतकरंधनार्थविउरादिके नेक्ष्यते साऽतः कथं  
क्षितिजलादिसंघगुण इष्यते चेतनेति ॥ १६ ॥

इदानीं मगवतो वीतरागे वपुः स्तुवन्नाह;—

प्रशान्तकरणं यपुर्विगतभूषणं चाऽपि ते

समस्तजनचित्तनेत्रपरमात्सवत्वं गतम् ।

विनाऽऽयुधपरिमहाजिन ? जितास्त्वया दुर्जयाः

कषायरिपवो परेने तु युर्दातशस्त्रैरपि ॥ १७ ॥

प्रशान्तकरणमिति—वपुः शरीरं । कथंभूतं, प्रशान्तकरणं प्रशान्तानि शान्तिं  
प्राप्तानि करणानिन्द्रियाणि यस्मिन्तत् । पुनः कथंभूतं, विगतभूषणं विगतानि  
प्रयातानि भूषणान्याभरणानि यस्मिन्तत् । एवं च तत्तर्हि कस्याऽपि वपुर्मे  
न स्यादित्याशङ्क्यां समस्तैत्यादिनाऽऽह—समस्तजनचित्तनेत्राणां निमित्त-  
प्राणिमानसलोचनानां परम उत्कृष्ट उत्सवः प्रमोदो यस्मात्तस्य भावगतस्य  
तद्वत् प्राप्तमेवाभिधशरीरसंयुक्तेन स्वया किं कृतं । हे जिन । स्वया जिनेन  
जिताः । हे, कषायरिपवः क्रीडमानमायालोभा एव रिपवः शत्रवः । कर्षभुता,  
दुर्जयाः दुःशेन जेतव्याः । कथं जिताः, विनाऽऽयुधपरिमहाजिन शस्त्रारिधानं  
विनेव । अदौरपि जिता मविन्दन्तीत्याशङ्क्यामाश्रयरोरिषादिना अपरोक्ष-  
हिमदिभिस्तु न जिताम् । किंविशिष्टैरपि, चापरिशूडादिशस्त्राणि भारिभि-  
रपि इति ॥ १७ ॥

एवं कषायजयलक्षणमप्राप्तातिशय प्रतिपाद्य केवलज्ञानलक्षणं प्राप्प-  
तिशयं प्रतिपादयन्नाह,—

धियान्तरतमार्थवद्भूतिसमन्वयान्वीक्षणा-

अयेत्स्वपरिमाणयत्कचिदिह प्रतिष्ठा परा ।

प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात्कचि-

तथाऽयमपि युज्यते ज्वलनवत्कषायक्षयः ॥ १८ ॥

धियान्तरतमेति,—इह जगति कचित्पुरुषविशेषे धियां बुद्धिनां प्रति-  
ष्ठाऽवस्था परा भवेत् । कुतः, तरतमार्थवद्भूतिसमन्वयान्वीक्षणात् तरतमार्थोऽ-  
तिशायनं स विद्यते यस्याः सा चासौ गतिश्च प्रवृत्तिरतस्याः समन्वयोऽनु-  
गमस्तस्यान्वीक्षणात् सन्दर्शनात् । किं वत्, स्वपरिमाणवत् । अपमर्थः—यथा  
आपग्माणोः परिमाणं प्रवर्द्धमानं नमसि परां प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते तथा  
आस्थाशरेभ्यो बुद्धिः प्रकृष्यमाणा प्रक्षीणशेषावरणपुरषे परां प्रतिष्ठां प्रति-  
पद्यते इति । ननु धियां परमातिशयो ज्ञानावरणादिप्रक्षये भविष्यति । स  
कुतः सिद्ध इत्याह प्रहाणमिन्यादिना—प्रहाणमपि दृश्यते । कस्य, क्षयवतः  
किदृक्कालिकादेर्निमूलात्सर्वथा कचित्पुरुषार्थो यथा तथाऽयमपि युज्यते  
ज्वलनवत्कषायक्षयः । इदमत्र तात्पर्यं, यथा ज्वलनस्यानेकद्वकमवाहादिना  
प्रक्षयस्तथा सम्यग्दर्शनादिना कषायागामिति ॥ १८ ॥

ननु सर्वज्ञतालक्षणातिशयस्यात्यन्तासंभाव्यत्वात् कथं भगवति तत्क-  
ल्पना स्यादित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह,—

अशेषविदिदेत्यते सदसदात्मसामान्यवि-

जिन ! प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान् ।

कदाचिदिह कस्यचित्काचिदपेतरागादिता

श्कुटं समुपलभ्यते किमुत ते व्यपेतैतनसः ॥ १९ ॥

अशेषविदिनि,—हे जिन ! इह जगति अशेषविदिष्यते । कोऽसौ,  
प्रकृतिमानुषोऽपि सामान्यजनोऽपि । कथंभूतः सन्, सदसदात्मसामान्यवि-

सदसत्त्वमावाप्त्यामल्लजगन्निश्चायकः किमुत किं पुनरल्लक्षणवान्  
मगवान् सर्वज्ञो नेष्यते । अधुना सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिमन्त एवेत्ये-  
कान्तं निराकुर्वन्नाह, कदाचिदित्यादिना—कदाचिदिह जगति कस्यचिन्म-  
न्दकपायस्य क्वचित्कस्मिंश्चित्सत्तिहेतौ यदेशोऽपेतरागादिता स्फुटं यथा  
भवति तथा समुपलभ्यते किमुत ते जिनस्य । किं लक्षणस्य, व्यपेतैवस-  
ध्वस्तकेशस्येति ॥ १९ ॥

साम्प्रतं युक्तिशास्त्राविरोधिवक्तृत्वं मगधतः सर्वज्ञतायां चिह्नमित्याह,—

अनेपपुरुषादितत्त्वगतवेशनाकौशलं

त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितमाप्ततालाञ्छनम् ।

कणादकपिलाक्षपादमुनिशाक्यपुत्रोक्तयः

स्वलन्ति हि सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि ॥ २० ॥

अज्ञेयेत्यादि,—अशेष च तत्पुरुषादितत्त्वं तस्मिन्नातं यदेशनाया-  
प्रतिपादनस्य कौशलं चातुर्यं । कथंभूतं, त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितं त्वदन्यानि  
पुरुषान्तराणीश्वरादीनि तेष्वनुचितमयोग्यं । तत्किं ? आप्ततालाञ्छनं । ननु  
कणादादेः कस्मात् तद्विगममित्याह कणादेत्यादिना—कणादकपिलाक्षपा-  
दादीनामुक्तयः शास्त्राणि स्वलन्ति प्रमाणेन प्रतिहन्यन्ते हि स्फुटं । केपु,  
सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि सुष्टु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः परि समन्ताभिधे-  
तार्थेष्वपि निश्चयं प्राप्तेष्वप्यर्थेषु न केवलं सूक्ष्मान्तरितद्वयार्थेष्वेवेति निर्गलि-  
तोऽर्थ इति ॥ २० ॥

तदेव तदुक्तीनां स्सलनं दर्शयन्नाह,—

परिपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा

यमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः ।

कषायविरहाद्य चाऽस्य विनिवन्धनं कर्मभिः

कुतश्च परितिवृत्तिः क्षणिकरूपतायां तथा ॥ २१ ॥

परोत्थ्यादि-परेवैशेषिकादिभिः पुरुषो जीव इष्यते । कथंभूतोऽपरिणामकः  
परिणामरहितः । कथं, सर्वथा नित्ये । सतः किं, प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं  
परिणामिष्वे सत्येव ह्यात्मनोऽप्रमातृत्वादिरूपपरिस्थितिनेन प्रमातृत्वादिरूप-  
संभवात् । तथा कर्मबन्धोऽप्येवविधस्यात्मनो न संभवतीति दर्शयन् कथा-  
येत्यादिनाऽऽह-स आऽस्य सर्वथाऽपरिणामिनो जीवस्य विशेषेण निबन्धनं  
सम्बन्धः । कैः, कर्मभिः । कुतः, कथायविरहात् कथायरहितत्वात्, । स क-  
थापो हि जीवः कर्मभिः सम्बध्यते । बन्धाभावात् किं, कुतश्चित्तगतिनिर्वृति-  
र्मुक्तिर्यन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य, तथा तेनैव प्रकारेण क्षणिकरूपतायां तत्परि-  
लोपनं तदभावाच्च स्यात् इति ॥ २१ ॥

इदानीं सौख्यमतमाशङ्क्य दूषयन्नाह,—

मनो विपरिणामकं यदिदं संसृतिं चाप्नुते

तदेव च विमुच्यते पुरुषकल्पना रयाद् वृथा ।

न आऽस्य मनसो विकार उपपद्यते सर्वथा

भुवं तदिति दीप्यते द्वितययादिता कोपिनी ॥ २२ ॥

मन इत्यादि—“ मनश्चिने विपरिणामकं विविधपरिणामोपेन यदि च  
संसृतिं च संसारं चतुर्गतिरक्षणमधुने ध्यामोति तदेव च मनो विमुच्यते  
मुक्तं भवतीति सारयैभ्युपगम्यते ” तदा पुरुषकल्पना रयाद्भेद वृथा  
प्रयोजनाभावात् । यदेवं परिणामित्वं मनसः सिद्ध्येत्तदा संसारमोक्षौ स्यातां  
न च तन्निश्चयमिति दर्शयन्नाह न चेत्यादिना—न आऽस्य सौख्यमोक्षा-  
वस्थाधारतयाऽभ्युपगतस्य मनसो विकारः परिणामः सर्वथोपपद्यते पश्यते ।  
कुतः, भुवे नित्यं तन्मन इत्येवमिष्यते, हि दसमात्तहि सर्वथा नित्यं परि-  
णामि च मनोऽस्तिशेषशाऽऽह—द्वितययादिता कोपिनी विगोपिनीति ॥ २२ ॥

इदानीं बोद्धानो स्वाभ्युपगमादिति विगोपे दर्शयन्नाह,—

पृथग्जनमनोनुकूलमपरिः कृतं दास्यते

सुप्तेन सुखमाप्स्यते न तपसेत्यदारेन्द्रियैः ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सारलसंस्कृतं श्रेयते

मनु स्वमतलोकलिंगपरिनिधयैव्याहितम् ॥ २३ ॥

पुष्पजनेति—पुष्पजना रामादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोऽसमस्तौ  
सौमतेः कृतं शासनं दर्शनं । कदाचित् तदित्याह सुप्तेनेत्यादिना— सुप्तेन काय-  
क्रेषां विना सुप्तं पालोकिकमाज्ञाद्वैतमाप्नुते प्राप्यते न तत्र सा । किं-  
चित्तेतौ कृतमवश्येनियेस्तथेष्टयोः । किं तदा ह्यलमस्फुटं । कथं भूतं, प्रणिष्ठा-  
विभंगुरं कथं कथं पति विभेगुरं निनम्बरं । अथ नानित्यादिना स्वप्नतदि-  
निगेधे दर्शयति— स्वप्नतम लोहध निद्रं च तेषां परिनिधयातेषां दर्श-  
यितुं तत्र स्वप्नपरिनिधयेन निगेधस्तावत् न तत्रमा सुप्तं प्रत्यय इति  
वदतः शिरोमुद्रनमग्नयर्षादिवनधाणेनानवस्यप्रसङ्गात्, तथा “ यदा  
यदासाध्यं यच्च दुरे ध्वनमिधमम् । तामसौ तत्रमा सात्त्यं ततो किं दुर्गति-  
कमम् ” इति लोहधनीत्या च निगेधः, प्रत्यये विभंगुरभिः प्रत्यय च सर्वं  
कथयतिभिर्न्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिदिद्वयपरिनिधयेन व्याचष्टः ॥ २३ ॥

सन्धाने प्र-प्रतिष्ठानात् प्रवृत्तं न दृष्ट्याया १ इत्याशङ्की निराकुर्यथा, -

म मल्लतिरमभ्वरी म हि न मभ्वरी मा जिधा

यन्नादिद्विमात्रं तत्र यत्र इत्यनेन तत्पदः ।

कृपेन इतिदानशीलमुनिश्चन्दनादिक्रियः।

कथं निर्वर्तयिष्येति तद्विनिश्चयः ॥ १५ ॥

[illegible]

विहाय न किञ्चिद्गुणं नगरं वा वास्तवं सौगतेरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह दूषयेत्यादिना—  
दूषेव निष्कलेव । केत्याह कृषीत्यादिना—कृषिश्च दानश्च शीलं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो चासां ताभ्य ताः क्रियाभ्य । अथैतद्वेषमयात्कथं-  
चिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्यतिशयाक्षति ॥२४॥

अधुना मुंके केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवादित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुद्गादयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स—

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरेर्बालिरीः ।

क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता

न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यमात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंमृतोऽपि मगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उच्यसेऽधुना नरेः ।  
किञ्चिदिष्टैर्बालिरीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा भीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न सल्ल मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां भीतरागता  
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसंगो, न च सोऽतीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्माच्च न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मशेषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

अनु मगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्मादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो

मलैरनुपसंशृतो परसरोजपत्रेऽनुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं वेप्यते

ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयव्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोरमार्गैः  
सौगतेः कृतं शासनं दर्शनं । कदाचित् तदित्याह सुखेनेत्यादिना—सुरेण कस्य-  
क्लेशं विना सुरं पारलौकिकमाप्ताद्वरूपमाप्स्यते प्राप्स्यते न तपसा । किं-  
शिष्टैस्तेः कृतमवश्येन्द्रियेस्तथेप्यते । किं तत्सकलसंस्कृतं । कथंभूतं, प्रतिक्षण-  
विभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं । अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादि-  
विरोधं दर्शयति—स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तेष्वर्थास्तै-  
र्विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्स्यत इति  
यदुक्तः शिरोमुण्डनवस्त्रचर्मादिवनधारणेनानवर्ग्यप्रसङ्गात्, तथा “ यद्वा  
युरारार्षं यद्य दूरे ध्वजस्थितम् । तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुर्लभ-  
म् ” इति लोकपतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्व-  
कथमिभित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्यापातः ॥ २३ ॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादेः प्रवृत्तेर्न तद्व्यापात इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्नाह—

न सन्ततिरनन्धरी न हि च नन्धरी नो द्विधा

यनादिवदभाय एव यत इष्यते तत्पतः ।

वृथैव कृपिदामशीलमुनिवन्ननादिक्रिया

कथञ्चिद्विगन्धरी यदि भवेत्प्रमिताशतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरिति पादिना—सा हि सन्ततिरज्ञातिका साणिका उभयस्या वा  
स्यादिनि पक्षत्रयमध्यवर्तकमिति नेत्यादिना दर्शयति । न सन्ततिः सन्ता-  
नोऽनन्धरी निर्या न हि च नन्धरी नो द्विधा कृतं इति सा न सम्भवति  
यनादिवदभाय एव यत इष्यते तत्पतः । यदि हि सन्ततिः सन्ततिः सन्ततिः  
नित्या नित्या भोमयस्या वा स्यात्, न च सन्ततिः सन्ततिः सन्ततिः सन्ततिः  
यतस्तत्पतः । यथायतः सा न सन्ततिरिति चिन्तयन् यनादिवत्, यथेव  
दि वरं नान्यमित्यादिवचनम्, न हि वरं विशेषम् दृढवागादिवचनम्

विहाय न किञ्चिद्न नगरं वा वास्तवं सौमतेरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—  
वृथैव निष्पत्येव । केत्याह कृपीत्यादिना—कृपिभ्य दानञ्च शीलं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो दासां ताभ्य ताः क्रियाभ्य । अपैतद्दोषमयात्कथं-  
चिद्विनिश्चरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेद्यतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

अधुना मुंक्ते केषही विरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवर्दित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुद्धावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरेर्वालिदीः ।

क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता

न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उपस्यसेऽधुना नरैः ।  
किञ्चिशिष्टैर्वालिदीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा धीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां धीतरागता  
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्माच्च न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मलोपाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
तत्त्वत्वात्कथं तत्त्वात् तदभावात्तन्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

अनु भगवतो जन्मामावे कथं स्वमातुर्गर्मादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिदं यद्यपि प्रभय इष्यते गर्भतो

मलैरनुवसंभूतो परसरोजपत्रेऽनुवृत् ।





विहाय न किञ्चिद्वनं नगरं वा वास्तवं शीघ्रतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तद्भावाः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना—  
वृथैव निष्पद्येव । केत्याह वृषीत्यादिना—वृषिभ्यश्चानमः शीष्टं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो यासां ताभ्यः ताः विधाभ्यः । अथैतदोपभयात्कथं-  
चिद्विनश्यती सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवत्यतिशयासक्तिः ॥९४॥

अधुना मुंके केवर्ही धिजीविमनुष्यत्वाद्भोगभुमिजवदित्यथ हेनोरसि-  
यतामुद्गावयमाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि न-

मनुष्य इति शरयसे त्वमधुना मरैर्बालिहीः ।

कृ ते मनुजगर्भिता कृ च विरागसर्वहता

न जन्ममरणारमता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ ९५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यमात् । पुनरपि कथंभूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यघट्टतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शरयसे उच्यसेऽधुना मरे' ।  
किञ्चिदिष्टैर्बालिहीः । यदि च मनुष्यमाप्तुम्वन्ता भगवन् शरयसे तदा भीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—कृ ते मनुजगर्भिता कृ च विरागसर्वहता  
न सद्यः मनुजानां मनुष्यमाद्याणां गर्भं इव गर्भो येषां तेषां भीतरागता  
सर्वहता च दृष्टा, यदि मनुष्यमाप्ततया तुम्वन्ता भगवन् इत्याह अन्म-  
दिवर्तगो, न च शोऽङ्गीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणारमता हि  
परमासुखं न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्म्महेतुवदिति तस्य च जन्ममयेव  
तत्त्वापारक्यं तत्त्वदात् तद्भावान्मरणाभावा इति ॥ ९५ ॥

अनु भगवतो जन्मभावे कथं स्वमातृभ्रातृत्याह इत्याह दृष्टम्;—

स्वमातुरिह दृष्टवि प्रभव इत्यनेन गर्भेनो

मलेत्पुनरुत्पन्नो दत्तसरोजपद्मेऽदुष्यत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेप्यते

ननु स्वमतलोकलिङ्गपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमरुः  
सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं । कदाहं तदित्याह सुरेनेत्यादिना—सुतेन काप-  
क्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाप्तादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा । किं-  
शिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेप्यते । किं तत्सकलसंस्कृतं । कथंमूर्तं, प्रतिक्षण-  
विभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं । अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादि-  
विरोधं दर्शयति—स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याप्तं  
विहृद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति  
वदतः शिरोमुण्डनवस्त्रचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा “यदूरं  
यदुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् । तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरति-  
क्रमम्” इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभङ्गामित्यस्य च सर्व-  
कमञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः ॥ २३ ॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानाद् प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्नाह—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा

वनादिवदमाय एव यत इष्यते तत्त्वतः ।

वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया

कथञ्चिद्विनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना—सा हि सन्ततिरक्षणिक् क्षणिक उभयरूपा वा  
स्यादिति पक्षत्रयमप्युक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति—न सन्तति सन्ता-  
नोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्येव सा न सम्भवति  
वनादिवदमाय एव यत इष्यते तत्त्वतः । यदि हि सन्ततिरित्युभयां प्रसक्त्या  
नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्; न चास्मिन् समभूता सौगतरिष्यते  
यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभावा एव सन्ततेरिष्यते किन्तु वनादिवत्; यथैव  
हि वनं नगरमित्यादिरूपवत्, न हि वृक्षविशेषात् गृहपासाद्विशेषोऽभ

विहाय न किञ्चिद्भयं नगरं वा वास्तव्यं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह कृपेवेत्यादिना—  
कृपेव निष्फलैव । केत्याह कृपीत्यादिना—कृपिष्व दानञ्च शीर्षं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषमयात्कथं-  
चिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्यतिशक्तिः ॥ २४ ॥

अधुना भुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजगदित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुद्भावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिहीः ।

कृ ते मनुजगर्भिता कृ च विरागसर्वज्ञता

न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उपस्यसेऽधुना नरैः ।  
किञ्चिशिष्टैर्बालिहीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा धीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—कृ ते मनुजगर्भिता कृ च विरागसर्वज्ञता  
न सद्य मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भं इव गर्भो येषां तेषां धीतरागता  
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसङ्गो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मशेषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
सत्त्वत्वात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

अनु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिदं यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो

मलैरनुवसंश्रुतो परसरोजपत्रेऽनुवत् ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेप्यते

ननु स्वमतलोकलिङ्गपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोऽनुरूपं  
सौगतेः कृतं शासनं दर्शनं । कीदृशं तदित्याह मुखेनेत्यादिना—मुखेन कां-  
क्षेयं विना सुखं पारलौकिकमादादरूपमाप्नोति प्राप्यते न तपसा । किं-  
शिष्टेस्तेः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेप्यते । किं तत्सकलसंस्कृतं । कथंभूतं, प्रतिक्षण-  
विभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं । अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादि-  
विरोधं दर्शयति—स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयात्तेर्व्याहितं  
विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति  
यदतः शिरोमुण्डनबद्धचर्यादिवनधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा “ यदूरं  
यदुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् । तत्सर्वं तपसा माध्यं तपो हिं दुरति-  
क्रमम् ” इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्व-  
कषयिभित्तिं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः ॥ २३ ॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानाद् प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कानिराकुर्वन्वाह—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा

वनादिवदभावे एव यत इष्यते तत्त्वतः ।

वृथैव कृपिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रिया-

कथञ्चिद्विचिनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना—सा हि सन्ततिरक्षुण्णिका क्षुण्णिका उभयरूपा वा  
स्यादिति वक्ष्यमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति—न सन्तति सन्ता-  
नोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कृत इत्य सा न सम्भवति  
वनादिवदभावे एव यत इष्यते तत्त्वतः । यच्च हि सन्ततिरक्षुण्णिका क्षुण्णिका  
नित्याऽनित्या उभयरूपा वा स्यात्, न च सोऽक्षुण्णिका सौगतेरिष्यते  
यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभावे एव सन्ततेरिष्यते किव न वनादिवत्, यथैव  
हि वनं नगरमित्यादिव्यवहारः, न हि वृक्षविशेषात् वृक्षासावविशेषात्

विहाय न किञ्चिदनं नगरं वा वास्तवं सौगतेरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह बुधैवेत्यादिना—  
कृपेव निष्फलेव । केत्याह कृपीत्यादिना— कृपिष्वदानञ्च शीलं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतदोषमयात्कथं-  
चिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्यतिशयक्षतिः॥२४॥

अपुना मुने केषठी चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुद्गाध्यभाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरेर्बालिनीः ।

क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता

न जन्ममरणात्मता हि तय विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उच्यसेऽपुना नरेः ।  
किञ्चिशिष्टैर्बालिनीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा बीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न सद्य मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां बीतरागता  
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्माच्च न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मदोषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
तत्क्षयात्कथं तत्त्वता तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्मामावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो

मलैरनुपसंयुतो यरसरोजपत्रेऽबुधत् ।



विहाय न किञ्चिद्भनं नगरं वा वास्तवं सौगतेरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदमायः को दोष इत्याह वृषेवेत्यादिना—  
वृषेव निष्फलैव । केत्याह कृषीत्यादिना— कृषिश्च दानश्च शीलं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्विषयमयात्कथं-  
चिद्विनिम्बरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्यतिशयक्षतिः॥२४॥

अधुना मुंके केषली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुदावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरेर्बालिनीः ।

क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता

न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन । त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा  
यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति शस्यसे उप्यसेऽधुना नरैः ।  
किञ्चिशिष्टेर्बालिनीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा भीति-  
रामताविरोध इत्याह केत्यादिना—क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न सद्य मनुजानी मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां भीतरामता  
सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्माच्च न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मलोपाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
तत्त्वत्वात्कथं तत्त्वत्वात् तदमायान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्मामावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिदं यद्यपि भगव इष्यते गर्भतो

मलैरनुपसंशृतो वरसरोजपत्रेऽनुबद्ध ।



प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेप्यते

ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोऽमपैः  
सौगतेः कृतं शासनं दर्शनं । कीदृशं तदित्याह मुखेनेत्यादिना—मुखेन कां-  
क्षेयं विना सुखं पारलौकिकमाहादरूपमाप्स्यते प्राप्यते न तपसा । किं-  
शिष्टैस्तेः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेप्यते । किं तत्सकलसंस्कृतं । कथंभूतं, प्रतिक्षण-  
विभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं । अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादि-  
विरोधं दर्शयति—स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तेर्ष्याहं  
विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति  
वदतः शिरोमुण्डनवस्त्रचर्यादिवनधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा “यदूरं  
यदुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम् । तत्तमर्धं तपसा माध्यं तपो हि दुरति-  
क्रमम्” इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुमित्यस्य च सर्व-  
कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः ॥ २३ ॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादे प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्क्या निराकुर्वन्नाह—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा

यनादिवद्भावा एव यत इप्यते तत्त्वतः ।

धृयेव कृपिदानशीलमुनियन्दनादिक्रिया

कथञ्चिदचिनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः ॥ २४ ॥

न सन्ततिरित्यादिना—सा हि सन्ततिरक्षणिक्का क्षणिक्का उभयरूपा वा  
स्यादिति पक्षत्रयमप्युक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति—न मन्तति सन्ता-  
नोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्य सा न सम्भवति  
यनादिवद्भावा एव यत इप्यते तत्त्वतः । यदि हि सन्ततिरिति स्यात् तदा  
निर्याप्रनित्या धोमयरूपा वा स्यात्, न चा सोऽनश्वरी सौगतस्त्वित्ये  
मनस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभावा एव मन्ततेतिप्येव क्विन्न यनादिवत्, यथेव  
हि वर्नं नगरमित्यादिम्यवहारः, न हि इमविशेषात् गृह्यमात्रविशेषात्

विहाय न किञ्चिद्गुणं नगरं वा वास्तवं सौमतेरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणा-  
न्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह कृष्येवेत्यादिना—  
कृष्येव निष्पत्येव । केत्याह कृषीत्यादिना— कृषिश्च दानञ्च क्षीलं च मुनि-  
वन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषमयात्कथं-  
चिद्विनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्व क्षणिकमिति भवेत्यतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना मुक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवदित्यत्र हेतोरसि-  
द्धतामुद्भावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स-  
मनुष्य इति दास्यसे त्वमधुना नरैर्वालिनीः ।

क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन । त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा-  
यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामती-  
तोऽपि सन्नित्यंभूतोऽपि भगवन् । मनुष्य इति दास्यसे उप्यसेऽधुना नरैः ।  
किञ्चिशिष्टैर्वालिनीः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीत-  
रागताविरोध इत्याह केत्यादिना—क ते मनुजगर्भिता क च विरागसर्वज्ञता  
न सत्तु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भे इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता  
सर्वज्ञता च हृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मा-  
दिप्रसङ्गो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना—जन्ममरणात्मता हि  
यस्माच्च न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मशेषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव  
तत्क्षयात्कथं तस्यात् तदभावाज्जन्ममरणाभाव इति ॥ २५ ॥

अनु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद्य इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो  
मलैरनुवसंश्रुतो वरसरोजपत्रेऽनुयत् ।





